राष्ट्र समर्थ और सशक्त कैसे बनें ?



पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

राष्ट्र समर्थ और सशक्त कैसे बनें ?

*

लेखक :

वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

*

प्रकाशक :

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०११ मूल्य : ३१.०० रुपये

विषय-सूची

दो शब्द

किसी भी राष्ट्र की समर्थता-सशक्तता मुख्यतः उसके नागरिकों के चरित्र की दृढ़ता, नैतिकता, कर्तव्यनिष्ठता पर निर्भर है। यद्यपि आजकल बहुसंख्यक देश और राजनैतिक नेता बढ़ी-चढ़ी सैन्यशक्ति, उद्योग-धंधों की बहुलता और धन की अधिकता को ही राष्ट्रोन्नति का मुख्य चिह्न मानते हैं, पर वास्तव में ये सब आवश्यक होने पर गौण हैं। यदि देश के नागरिक सुयोग्य और कर्तव्य पर अडिग रहने वाले हैं, तो वह सब प्रकार की साधनों की त्रुटियों और अभावों की पूर्ति करके प्रगति मार्ग पर अग्रसर हो सकेंगे। पर यदि उनमें सच्चाई, ईमानदारी, कर्तव्यपालन आदि जैसे सद्‌गुणों की कमी है, तो उनको सब तरफ से सहायता मिलने पर भी वे पतित अवस्था में ही पड़े रहेंगे। आंतरिक दोष और दुर्गुणों के रहते कोई भी जाति या व्यक्ति वास्तविक उन्नति नहीं कर सकता।

इस पुस्तक में बताया गया है कि यद्यपि हमारे देश ने गत ४० वर्षों में काफी प्रगति की है, जिसके आधार पर वह अपने कई जबर्दस्त विरोधियों को सशक्त और कूटनीतिक संघर्ष में मात दे चुका है। पर इतना ही काफी नहीं, अब भी यहाँ के नागरिकों में अनेक चरित्रगत त्रुटियाँ विद्यमान हैं, जिनके कारण हमारी राष्ट्रीय-प्रगति की चाल बहुत मंद है और देश को अनेक अवसरों पर गंभीर संकटों का सामना करना पड़ता है। भ्रष्टाचार, अनैतिकता, अश्लीलता, दहेज जैसी सामाजिक कुरीतियाँ, छूत-अछूत की अन्यायपूर्ण भावना आदि ऐसे दोष हैं, जिनको राष्ट्रोत्थान की दृष्टि से दूर करना अनिवार्य है। यह पुस्तक पाठकों की आँखें खोलने वाली सिद्ध होगी, इसमें संदेह नहीं।

—**प्रकाशक**

राष्ट्र समर्थ और सशक्त कैसे बनें ?



प्रजातंत्र की सफलता के लिए हम यह करें

प्रजातंत्र की सफलता का आधार मतदाता की देश भक्ति और दूरदर्शिता पर निर्भर रहता है। यह तत्त्व जनमानस में जितने अधिक विकसित होंगे, उसी अनुपात से वे शासनतंत्र सँभालने के लिए अधिक उपयुक्त व्यक्ति चुनने में सफल हो सकेंगे। श्रेष्ठ व्यक्तित्व ही किसी महत्त्वपूर्ण काम को ठीक तरह सँभालने में समर्थ हो सकते हैं। अधिक सही, अधिक योग्य और अधिक सुयोग्य हाथों में शासनतंत्र रहे तो प्रजाजन उस सरकार के अंतर्गत सुख-शांति और प्रगति का लाभ प्राप्त करेंगे। इसके विपरीत यदि अवांछनीय तत्त्वों ने शासन पर कब्जा कर लिया तो वे उसका उपयोग व्यक्तिगत स्वार्थों के लिए, अपने गुट के लिए करेंगे और उस दुरुपयोग के कारण जो अवांछनीय शृंखला बढ़ेगी उसकी चपेट में सरकारी कर्मचारी भी आवेंगे। उनका स्तर भी गिरेगा और इस गिरावट का अंतिम दुष्परिणाम जनता को ही भोगना पड़ेगा। इसलिए जहाँ भी प्रजातंत्री शासन हो, वहाँ सबसे प्रथम आवश्यकता इस बात की पड़ती है कि वहाँ का वोटर इतना सुयोग्य बन जाय कि अपने वोट का राष्ट्र के भविष्य को बनाने-बिगाड़ने की चाबी के रूप में, राष्ट्रीय पवित्र धरोहर के रूप में केवल उचित आधार पर ही उपयोग करें।

दुर्भाग्यवश अपने देश में ऐसा न हो सका। यहाँ निरक्षरता का साम्राज्य है। केवल ३५ प्रतिशत पढ़े-लिखे लोग हैं। इनमें से अधिकांश ऐसे हैं, जो अपने जीवन निर्वाह के लिए जितना आवश्यक है, उतना ही लिखना-पढ़ना याद रखते हैं। विचारशीलता बढ़ाने या व्यक्ति समाज की समस्याएँ सोचने-सुलझने वाला साहित्य पढ़ने की उन्हें न रुचि होती है, न वैसी सामग्री मिलती है। हिसाब-किताब, चिट्ठी, नौकरी-धंधा भर के लिये लोग पढ़ने-लिखने की आवश्यकता समझते

हैं। इसके बाद पढ़ना हुआ तो घटिया मनोरंजन करने वाली पत्रिकाएँ जो आसानी से मिल जाती हैं, पढ़ ली जाती हैं। इससे आगे की दिशा निर्धारण करने वाला साहित्य तो इन पढ़े-लिखों में से तीन चौथाई को नहीं, मिलता फिर अशिक्षितों को उसकी सुविधा कैसे मिले ? जनता की विचारशक्ति बढ़ाने के लिए शिक्षा की—विशेषतया प्रौढ़ शिक्षा की—भारी आवश्यकता थी। सरकारी या गैर-सरकारी स्तर पर यदि इस आवश्यकता को प्राथमिकता दी गई होती तो निःसंदेह अपने देश की शिक्षा स्थिति बहुत सँभल गई होती। हर जगह प्रेरणादायक पुस्तकालय रहे होते और उनका संचालन लोकरुचि जगाने और मोड़ने वाले लोकसेवी कर रहे होते, तो इन ५३ वर्षों में अपनी जनता की मनोभूमि बहुत ऊँची उठ गई होती और वोट की एवं उसकी उपयोगिता और प्रयोग करते समय दूरदर्शिता से काम ले सकने की योग्यता उसमें विकसित हो गई होती। ऐसी दिशा में हमारे चुने हुये प्रतिनिधि एक से एक ऊँचे स्तर के शासनतंत्र को सँभालते और उनके पुण्य-प्रयत्नों द्वारा देश में सुराज्य के मंगलमय दृश्य देखने के मिल रहे होते।

आज चुनाव जीतना एक विशेष कला के अंतर्गत आता है। नासमझ लोगों को बहकाने के लिए जो हथकंडे काम में लाये जा सकते हैं, उन्हें ही चुनाव जीतने के लिए आमतौर से प्रयुक्त किया जाता है। जाति, बिरादरी वाली संकीर्णता की बात पिछले आर्य समाजों और कांग्रेसी आंदोलनों ने काफी हल्की कर दी थी, पर जब से चुनाव सामने आये हैं, इस विष को फैलाकर आसमान पर चढ़ा दिया गया है। सच्चाई यह है कि अब चुनाव बिरादरीवाद के विद्वेष को भड़काकर लड़े और जीते जाते हैं। बाहर से कोई सिद्धांतवाद की लंबी-चौड़ी बातें भले ही करता फिरे चुनाव जीतने के वक्त जातिवाद को भीतर खूब भड़काया जाता है। बहुमत वाली जाति से उसका उम्मीदवार अपनों को वोट देने की बात कहता है और दूसरी बिरादरी को वोट न जाए, इसलिए उनकी ओर से अपने लोगों के कटु वचन कहने या चुनौती देने की मनगढंत अफवाएँ फैलाता है। इसी विषाक्त वातावरण में चुनाव लड़े जाते हैं

और बिरादरीवाद को उत्तेजित और संगठित कर लेने वाले बाजी मार ले जाते हैं। राजनैतिक दल अपने उम्मीदवार खड़े करते समय इस बिरादरी—स्थिति को ही ध्यान में रखकर आमतौर से उम्मीदवार खड़े करते हैं। इस प्रकृति के भड़काकर योग्यता और उत्तमता की दृष्टि ही नष्ट कर दी गई। अपनी बिरादरी वाले को जिताने के उन्माद का लाभ केवल हथकंडेबाज और तिकड़मी लोग ही उठा पाते हैं और जीत जाने पर अपना उल्लू सीधा करने की तरकीबें भिड़ाने में लग जाते हैं।

चुनावों के दिनों सिद्धांतों की बात तो सिर्फ ऊपर-ऊपर से कही-सुनी जाती है। वस्तुत: वोटरों को अपने पक्ष में करने के लिए उस क्षेत्र के प्रभावशाली लोगों पर डोरे डाले जाते हैं और उन्हें तरह-तरह के हाथों हाथ या आश्वासनों के प्रलोभन देकर अपनी गिरोहबंदी में शामिल किया जाता है। वे अपने प्रभाव-परिचय का उपयोग भोले भाले लोगों से वोट प्राप्त करने में करते हैं और सहज ही वे बहकाये हुए किसी के पीछे-पीछे चलकर किसी को भी वोट दे आते हैं और कोई भी जीत जाता है। वोट के दिनों वोटरों को सवारी, भोजन, चाय-पानी, नकदी, खुशामद आदि के रूप में कई तरह के छोटे-बड़े प्रलोभन दिये जाते हैं, सब नहीं तो उनके अगुआ इन सुविधाओं को थोड़े समय के लिये ही सही—प्राप्त करके अपना मान बढ़ा समझ लेते हैं।

वोटर में न तो स्वयं को इतनी चेतना विकसित हुई होती है कि राष्ट्र के भाग भविष्य का निर्माण कर सकने वाले सुयोग्य व्यक्ति को ही वोट देकर अपना कर्तव्यपालन करें और न उनकी इस प्रकार की योग्यता विकसित करने के लिये कोई संगठित प्रयत्न किये जाते हैं। तत्काल भड़काने वाली कुछ स्थानीय या सामाजिक चर्चाएँ ही वोटरों का विचार बनाती-मोड़ती हैं। इन हथकंडों के साथ गिरोहबंदी जोड़-तोड़ और दौड़धूप करना हर किसी का काम नहीं है। उसमें खर्च भी बहुत पड़ता है, उसे कोई लोकसेवक नि:स्पृह व्यक्ति कैसे जुटा पाएँ ? जीतते वे लोग हैं जो चुनाव में अंधाधुंध पैसा इस ख्याल से खर्च करते हैं कि जीतने पर

ब्याज समेत वसूल कर लेंगे। जिन्होंने यह सोचकर पैसा और समय खर्च किया है, वे जीतने पर यदि कुछ लाभ कमाना चाहें, तो इसमें बेजा भी क्या बात है ? यह निश्चित है कि जिनके सहयोग से अनुचित स्वार्थ सिद्ध किया गया है, उनको भी वैसा ही लाभ उठाने की छूट मिलेगी। इस प्रकार ऊपर से नीचे तक भ्रष्टाचार की शृंखला का सिलसिला बँध जायगा। जनता उस चक्की के पाटों के बीच पिसती-कराहती रहेगी।

सभी वोटर ऐसे होते हैं या सभी चुनाव जीतने वाले ओछे तरीके ही अपनाते हैं, यह नहीं कहा जा रहा। सज्जनता का बीज नाश कभी नहीं होता, इसलिए अपने चुनावों में भी बहुत जगह बहुत लोग सही तरीके अपनाते और जीतते देखे जाते हैं। पर वे अपवाद ही हैं। ऐसी ही भेड़िया धसान चल रही है, जैसी कि ऊपर चर्चा की गई है। उसका प्रधान कारण भारतीय जनता को प्रबुद्ध और प्रगल्भ बनाने की दिशा में बरती गयी उपेक्षा ही है। जब तक इस आवश्यकता को पूरा न किया जायेगा—जन मानस को राजनैतिक उत्तरदायित्व सँभालने के प्रथम प्रजातंत्री कर्तव्य मतदान का महत्त्व और दूरगामी परिणाम विदित न होगा, तब तक स्थिति के सुधारने की आशा नहीं की जा सकती। प्रजातंत्र स्विट्जरलैंड जैसे प्रबुद्ध नागरिकों के देश में ही सही तरह सफल हो सकता है। जनता का स्तर यदि घटिया है तो घटिया लोग चुने जायेंगे और इनके द्वारा चलाया हुआ शासन, स्वराज्य कहला सकता है, पर उसके द्वारा सुराज्य की आवश्यकता पूरी नहीं हो सकती।

इस कठिनाई को हल करने का स्थिर उपाय तो है कि जनता को साक्षर, शिक्षित, प्रबुद्ध एवं दूरदर्शी बनाने के लिए युग-निर्माण योजना द्वारा संचालित जन-मानस परिष्कार अभियान को अधिकाधिक समर्थ और सफल बनाने में पूरा जोर लगाया जाए। जनता जितनी दूरदर्शी, देशभक्त कर्तव्यनिष्ठ और नागरिक कर्तव्य का ठीक तरह पालन कर सकने में समर्थ बनती जायेगी उतना ही वोट का सदुपयोग होगा और सही व्यक्ति सही ढंग से शासनतंत्र चलाने के लिए नियुक्त किए जा सकेंगे। जब तक

जन-मानस का स्तर गिरा हुआ रहेगा, तब तक उसके द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि भी स्तर के रहेंगे। दल-बदल, पदलोलुपता, भाई-भतीजावाद, पक्षपात, स्वार्थ साधन, भ्रष्टाचार की अनेक शिकायतें हमें अपने शासन संचालकों से रहती हैं। इसका मूल दोष जनता की अपरिपक्व मनः स्थिति को ही दिया जा सकता है। जब तक उसमें सुधार-परिष्कार न होगा, शासनतंत्र अनुपयुक्त व्यक्तियों के हाथों में ही बना रहेगा। जैसा दूध होगा मलाई भी उसी स्वाद की बनेगी। जनता का स्तर ही चुनाव में विजयी होकर आता है। यह सिद्धांत विश्वव्यापी है। भारत वर्ष का ही नहीं, जहाँ भी प्रजातंत्र है, वहाँ यही सिद्धांत लागू होंगे। अस्तु दोष न वोटर का है न चुनाव जीतने वालों का; पिछड़ेपन की परिस्थिति ही ऐसी है, जिसमें जनता से अधिक ऊँचे स्तर का शासन मिल सकना संभव ही नहीं हो सकता।

इस स्थिति में आपत्तिकालीन स्थिति की तरह एक सामयिक उपाय दूसरा भी है कि वोट देने का तरीका प्रत्यक्ष न रखकर अप्रत्यक्ष कर दिया जाय। इसमें वोटरों को बरगलाने का खतरा कम और विवेक से काम लेने का अवसर अधिक है। आरंभ ग्राम पंचायतों से किया जाय। वहाँ भी वोट डालने का तरीका ऐसा हो, जिसमें दूसरे किसी का पता न चलने पाये कि किसे वोट दिया गया ? चुनाव दो तिहाई पर सफल माना जाए। आजकल आधे वोट मिलने पर चुनाव जीतने का जो क़ायदा है, उसे बढ़ाकर दो तिहाई कर दिया जाय। इससे लोकप्रिय व्यक्ति ही चुने जा सकेंगे। प्रयत्न सर्वसम्मत चुनाव का किया जाए। यह हो सकता है कि एक बार प्राथमिक परीक्षण, दूसरी बार अंतिम चुनाव। प्राथमिक परीक्षण में कितने ही लोग खड़े हो सकते हैं। उस चुनाव में लोकप्रियता का पता चल जायेगा। इनमें जिनके सबसे अधिक वोट हों, ऐसे दो प्रतिद्वंद्वी ही अंतिम चुनाव में खड़े रहें और उनमें से जिसे दो तिहाई वोट मिलें उसी को सफल घोषित किया जाए। अच्छा तरीका यह है कि दोनों से विवेकशीलता, चरित्र और सेवा की दृष्टि से जिसका पिछला स्तर ऊँचा रहा हो, उस एक को ही सर्वसम्मति से

चुना जाय। इससे चुनाव के कारण जो कटुता उत्पन्न होती है, उससे बचा जा सकेगा।

इस ग्राम पंचायत चुनाव में चुने हुए लोग क्षेत्र पंचायत का, क्षेत्र पंचायत वाले जिला पंचायत का, जिला पंचायत वाले प्रांत-पंचायत का और प्रांत पंचायत वाले देश पंचायत का चुनाव कर लिया करें। इससे यह लाभ होगा कि अधिक पूँजी पंचायत के लिये अधिक उत्तरदायी और अधिक योग्य वोटर रहेंगे और उनसे अधिक विवेकशीलता और जिम्मेदारी की आशा की जा सकती है। यह तरीका—आज के सीधे चुनाव के तरीके की अपेक्षा भारत जैसे विकासशील देश के लिए अधिक उपयुक्त रहेगा।

राष्ट्रपति का चुनाव ग्राम पंचायत के प्रतिनिधि करें, ताकि किसी एक पार्टी के वोटों पर निर्भर वह न रहे। बहुमत पार्टी का चुना राष्ट्रपति उसी का पक्षपात करेगा यह आशंका बनी रहेगी। जबकि संविधान की रक्षा के लिए पूर्ण निष्पक्ष राष्ट्रपति की आवश्यकता है। अपने यहाँ अमेरिका के ढंग से चुना राष्ट्रपति होना चाहिए और उसके अधिकार भी अधिक होने चाहिए। मात्र बहुमत पार्टी का समर्थक या प्रवक्ता राष्ट्रपति रहे तो शासन में निरंकुशता बढ़ेगी।

चुनाव में खड़े होने के लिए हर वोटर की कुछ योग्यता निर्धारित होनी चाहिए, जिसमें शिक्षा, चरित्र और सेवा इन तीन को आधार बनाया जाय। जैसे-जैसे चुनाव का स्तर ऊँचा होता जाय, यह प्रतिबंध अधिक कड़े होते जायें। धनिक एवं व्यवसायी वर्ग को क्रमशः चुने जाने में प्रतिबंधित किया जाता रहे, क्योंकि वे अपने निहित स्वार्थों के लिये सत्ता का दुरुपयोग कर सकने में अधिक आगे तक बढ़ सकते हैं। सत्ता में जाने के बाद किसने अपने या अपने परिवार के लिए कितना धन कमाया और उसमें कुछ अनुचित तो नहीं था, इस बात की अधिक कड़ी निगरानी रखे जाने की व्यवस्था हो। इस प्रकार प्रतिबंधों से चुने प्रतिनिधियों का स्तर अधिक ऊँचा रखा जा सकेगा। दल-बदल करना हो तो इस्तीफा देकर नया चुनाव ही लड़ा जाना चाहिये।

मंत्रियों की संख्या बहुत सीमित रखी जाए। विभाग बहुत न बढ़ाये जायें। दफ्तरों पर दफ्तर, कागजों पर कागज की लाल फीताशाही समाप्त की जाय और कार्यों के तुरंत फैसला होने की पद्धति विकसित की जाय। आज की बहुत देर लगाने वाली और रिश्वतखोरी के लिए पूरी गुंजायश छोड़ने वाली सरकारी कार्य पद्धति को आमूल-चूल बदल दिया जाय। ऐसेंबलियों के अधिवेशन वर्ष में एक महीने से अधिक न हों। उन्हें वक्ताओं का सभा मंच न बनाया जाय। दल अपने प्रतिनिधि अनुपात के हिसाब से नियुक्त कर दें और वह छोटी समिति ही सामान्य निर्णयों को निपटाती रहे। इस तरह प्रतिनिधियों पर अधिवेशन के दिनों खर्च होने वाला पैसा बच जायेगा और वे लोग अपना समय जनसंपर्क में, लोगों की कठिनाइयाँ दूर करने में, सहयोग करने में लगा सकेंगे। इस प्रकार शासन कम खर्चीला, अधिक स्वच्छ एवं अधिक सुलभ बनाया जा सकेगा।

कानूनों को नये सिरे से बनाया जाए, जिसमें गवाहों के आधार पर नहीं, पंच प्रतिनिधियों की रिपोर्ट के आधार पर फैसले किये जायें। आततायियों के आतंक से आमतौर से सच्ची बात कहने वाले गवाह नहीं मिलते और खरीदे हुए गवाह झूठी बात कहने अदालतों में पहुँच जाते हैं। इससे कमजोर लोगों को न्याय नहीं मिलता। फिर वह खर्चीला भी बहुत है। रिश्वत की उसमें इतनी गुंजायश है कि कचहरियों में अब इसे 'हक' मान लिया गया है। यह प्रणाली न बदली गई तो लोग न्याय मिलने से निराश होने लगेंगे और बदला चुकाने के लिये कानून हाथ में लेने की प्रकृति पनपेगी, इसलिए न्याय सुलभ हो जाए और अपराधियों को अधिक कड़ी और कष्टकारक सजा मिलने की व्यवस्था हो, जिससे लोगों में अपराध न करने के लिए भय उत्पन्न हो। जेलों को सुधारग्रह बनाने का आज जो प्रयोग चल रहा है, उसमें अपराधी घर से भी अधिक सुविधा वहाँ जाकर पाते हैं और सुख के थोड़े से दिन काटकर आगे फिर वैसा ही करने को निर्भय हो जाते हैं। जेल से छूटने के बाद या पहले सुधारगृह में उन्हें अलग से एक स्कूली शिक्षण प्राप्त करने की तरह रखा, पढ़ाया जाए, यह तो बात समझ

में आती है, पर पेचीदा कानूनों के कारण अपराधियों को छूटने का अधिक अवसर मिलने के बावजूद यदि उन्हें हल्की और सुखदायक सजा मिलेगी तो वह सजा ढकोसला मात्र रह जायेगी।

ऐसी बीसियों बातें हैं जिनमें सुधार की काफी गुंजायश है। एक प्रांत से दूसरे प्रांत के लिये खाद्य पदार्थ जाने में प्रतिबंध लगाना, एक प्रकार से देश में ही विदेशों जैसी स्थिति पैदा करना है। अभाव या सुविधा का परिणाम पूरे देश के नागरिकों को समान रूप से भोगना पड़े तभी वे एक देश के नागरिक समझे जायेंगे। यदि एक क्षेत्र दूसरे क्षेत्र पर प्रतिबंध लगावे तो उससे राष्ट्रीयता विभक्त होने जैसी मनोभूमि बनती है। व्यर्थ के कानूनी झंझट खड़े होते हैं और तस्कर व्यापार आदि की गुंजायश बढ़ती है। इसी प्रकार टैक्स वसूल करने की प्रणाली प्रत्यक्ष न रहकर अप्रत्यक्ष रहे। उत्पादन पर शुल्क लगा दिया जाय। बिक्री पर बार-बार टैक्स लगाने से अनावश्यक सरकारी हस्तक्षेप बढ़ता है और उस नियंत्रण से मशीन को चलाने में ही बिक्रीकर का बहुत-सा अंश चला जाता है। पोलपट्टी बढ़ती है, सो अलग। टैक्सों के तरीके परोक्ष बनाये जा सकते हैं और कम खर्च में आसानी से वसूल किये जा सकते हैं।

अच्छी सरकार देश के चरित्र-स्तर और मनोबल को यदि चाहे तो आश्चर्यजनक ढंग से बढ़ा सकती है। शिक्षा में जीवन विद्या तथा समाज निर्माण को प्रभावी ढंग से पढ़ाया जा सकता है और निरर्थक का कूड़ा जो बच्चों के दिमाग में अकारण ठूँसा जाता है, उसका बोझ हटाया जा सकता है। छात्रावासों में रखकर शिक्षण देने की, छात्रों के कुछ उपार्जन सिखाने की व्यवस्था के साथ ऐसी परिष्कृत बनाई जा सकती है, जिससे बालक कुसंस्कारों से बचे रहें और सुसंस्कृत वातावरण में सुविकसित होने का लाभ उठा सकें। विशेष बनने वालों को विशेष पढ़ाई की सुविधा हो, पर सामान्य नागरिकों के लिये एक मध्यवर्ती ऐसा पाठ्यक्रम पर्याप्त माना जाए, जिसमें जीवन में काम आने वाले सभी विषयों सामान्य समावेश बना रहे।

साहित्य का स्तर निकृष्ट न बनने पाये। उसमें भ्रष्ट प्रशिक्षण प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से जुड़ने तो नहीं लगा है, यह देखना और

रोकना शासन का पवित्र कर्त्तव्य है। नागरिक स्वाधीनता के नाम पर भ्रष्ट साहित्य के सृजन की, भ्रष्ट तस्वीरें छापने की, भ्रष्ट फिल्में बनाने की सुविधा किसी को भी नहीं मिलनी चाहिए। वस्तुतः जन-मानस को प्रभावित करने वाले साहित्य संगीत और कला को भ्रष्टता से बचाने के लिए इनका आंशिक राष्ट्रीयकरण किया जाए। इन तंत्रों को उन्हीं हाथों में रहने दिया जाय, जो लोकमानस को विकृत न होने देने की और उत्कृष्ट सृजन करने की शर्त को राष्ट्र के साथ कड़ाई के साथ बाँधे हों। बारूद का प्रयोग बच्चों के हाथ में नहीं दिया जाता। विष बेचने का लाइसेंस हर किसी को नहीं मिलता। हथियार रखने की छूट भी हर किसी को नहीं होती। इसी प्रकार साहित्य, चित्र, सिनेमा जैसे जनमानस को प्रभावित करने वाले अति संवेदनशील माध्यमों को हर किसी के हाथ चाहे जैसे दुरुपयोग करने के लिए अनियंत्रित नहीं छोड़ दिया जाना चाहिए। जब तक जनता भले-बुरे की परख कर सकने की स्थिति में स्वयं नहीं पहुँच जाती, तब तक शासन द्वारा इन क्षेत्रों में बढ़ने वाली भ्रष्टता पर नियंत्रण लगाकर रखा जाय तो सर्वथा उचित ही होगा। इस नियंत्रण के साथ लोकमानस को प्रभावित करने वाले सत् सृजन को हर प्रकार की सुविधा और सहायता भी दी जानी चाहिए, जिससे वह अधिक समर्थ और अधिक सफल हो सके।

आज की शासन व्यवस्था में अनेक दोष आ गये हैं उन्हें सुधारने के लिए हमें सारी पद्धति को नये सिरे से विनिर्मित करना पड़ेगा, ताकि वर्तमान ढाँचे से अभ्यस्त और असंतुष्ट लोगों को नये सिरे से सोचने और करने का अवसर मिले। इसके लिए निस्संदेह शासन व्यवस्था और सरकारी क्रियाकलाप में क्रांतिकारी परिवर्तन की आवश्यकता है। इस तथ्य को समझ लेने के बाद उपरोक्त मोटे सुझावों के अतिरिक्त अन्य बारीकियों पर विचार किया जा सकता है। हमें नव-निर्माण के लिए स्वच्छ और स्वस्थ शासन का सहयोग चाहिए, उसका निर्माण भी एक ऐसी महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है, जिसकी पूर्ति की ही जानी चाहिए।

हम राजनीति में भाग क्यों नहीं लेते ?

ज्ञान यज्ञ द्वारा सर्वतोमुखी जन जागरण का अपना महान् अभियान अगले दिनों कुछ चमत्कारी उपलब्धियाँ उत्पन्न करके हिंसात्मक मानवीय आस्थाओं और अभिरुचियों को परिवर्तित करने जैसे दुष्कर कार्य की ओर अग्रसर हुआ। पिछली शताब्दियों में रूसो ने प्रजातंत्र के तथा मार्क्स ने सिद्धांतों की उपयोगिता को जिस प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत किया और इस विचारणा से प्रभावित लोगों ने जिस उत्साह एवं पुरुषार्थ के साथ आगे कदम बढ़ाया, उसका परिणाम अद्‌भुत निकला। आज इन दो मनीषियों द्वारा प्रतिपादित आदर्शों के आधार पर संसार के तीन चौथाई भाग पर शासन चल रहा है। विचारों की शक्ति अति प्रबल है। यदि वे बुद्धिसंगत एवं उपयोगिता की कसौटी पर खरे सिद्ध हो सके तो निश्चय ही उनका स्वागत होगा। फिर यदि उस विचारणा को सुव्यवस्थित संगठन द्वारा व्यवस्थित कार्य पद्धति द्वारा व्यापक बनाने का सुदृढ़ कार्य किया जाए तो कोई कारण नहीं कि वे अपने प्रकाश से विश्व के बड़े भाग को प्रकाशित न करें।

युग-निर्माण योजना द्वारा प्रतिपादित जनमानस में उत्कृष्टता एवं आदर्शवादिता की प्रतिष्ठापना के लिये जो सशक्त अभियान चलाया जा रहा है, उसने पिछले दिनों मजबूती के साथ जड़ जमाई है। अपने परिवार की चार हजार शाखाओं से संबद्ध लाखों सदस्य जिस उत्साह के साथ विचारक्रांति का पथ प्रशस्त करने में लग गये हैं और सृजनात्मक एवं संघर्षात्मक शत-सूत्री योजना की जो प्रवृत्तियाँ चल पड़ी हैं, उन्हें देखते हुए हर कोई विश्वास कर सकता है कि अगले दिनों अपना परिवार जन-जागरण एवं भावनात्मक नवनिर्माण की भूमिका संपादित करेगा। धरती पर स्वर्ग अवतरण के अपने स्वप्न साकार होकर रहेंगे।

हम लोग जिस तत्परता के साथ नवयुग-निर्माण की दिशा में आँधी-तूफान की तरह गतिशील हो रहे हैं, उसके संभावित परिणाम की प्रकाशवान् आशा सर्वत्र बँध चली है। इसलिए जिनका हमारी ही तरह विश्व शांति एवं मानवीय प्रगति के प्रति विश्वास है, वे अनेक

प्रश्न पूछते और अनेक परामर्श देते रहते हैं, यह उचित भी है। उत्तरदायित्व सँभालने वालों से अधिक सही और अधिक ठोस काम किये जाने की आशा की ही जानी चाहिए। इस दृष्टि से अपने उद्देश्यों का परिपूर्ण समर्थन करते हुए भी कार्यक्रमों में सुधार एवं परिवर्तन करने के अनेक परामर्श दिये जाते रहते हैं और उनको अति कृतज्ञता एवं आदर के साथ संपन्न भी करते हैं और उन पर विचार भी।

ऐसे ही सुझावों में एक महत्त्वपूर्ण एवं वजनदार सुझाव यह भी है कि—"हम राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश क्यों नहीं करते ? और राजतंत्र को अपने अनुकूल बनाकर सरकारी स्तर पर वह सब सहज ही क्यों नहीं करा लेते, जिसके लिए इन दिनों इतनी अधिक माथापच्ची कर रहे हैं? "इस सुझाव के पीछे अपनी और अपने संगठन की वह क्षमता और व्यापकता है, जिसका सही मूल्यांकन कर सकने वाले लोग अनुभव करते हैं कि इन दिनों अपना तंत्र—किसी भी राजनैतिक, सामाजिक या धार्मिक तंत्र से कम प्रखर एवं कम सशक्त नहीं है।

वर्तमान युग में राजनीति की सर्वोपरि सत्ता और महत्ता स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति नहीं है। यह स्वीकार करने में कोई अड़चन नहीं है कि सरकारें यदि सही कदम उठा सकें, सूझ-बूझ से काम लें और अपने क्रियातंत्र को सुव्यवस्थित रख सकने में समर्थ हों, तो वे अपने क्षेत्र में आश्चर्यजनक प्रगति कर सकती हैं। जापान, चीन, रूस, जर्मनी, अरब, इजराइल आदि ने चंद दिनों के भीतर अपने ढंग से—अपनी योजनानुसार—अभीष्ट परिवर्तन के प्रकार प्रस्तुत कर लिये। इसके आश्चर्यजनक उदाहरण सामने हैं। हम उन लोगों में से नहीं हैं, जो वास्तविकता की ओर से जान-बूझकर आँखें बंद किये रहें। धर्म का राजनीति से कोई संबंध नहीं, यह दूसरों ने भले कहा हो, हमने यह शब्द कभी भी नहीं कहे हैं। इतिहास ने हमें सिखाया है कि धर्म की स्थापना में राजनीति का सहयोग आवश्यक है और राजनीति के मदोन्मत्त हाथी पर धर्म का अंकुश रहना चाहिए। दोनों एक-दूसरे के विरोधी नहीं, वरन्

पूरक हैं। दोनों में उपेक्षा या असहयोग की प्रवृत्ति नहीं, वरन् घनिष्ठता एवं परिपोषण का साधन तारतम्य जुड़ा रहना चाहिए।

इतिहास साक्षी है कि, जनता के सुख-सौभाग्य में अभिवृद्धि का आधार दोनों के बीच साधन सहयोग ही प्रमुख तथ्य रहा है। गुरु वशिष्ठ के मार्गदर्शन और रघुवंशियों के शासन क्रम ने द्वापर में उस सतयुग की स्थापना की थी, जिसे हम रामराज्य के नाम से आदर के साथ याद करते हैं। चाणक्य के मार्गदर्शन से गुप्त साम्राज्य पनपा, फैला और परिपुष्ट हुआ था। पांडवों का मार्गदर्शन कृष्ण ने किया था और दुःशासन का उन्मूलन कर सुशासन की स्थापना की थी। राजा मांधाता का सहयोग शंकराचार्य की दिग्विजय का महत्त्वपूर्ण आधार था। भगवान् बुद्ध के प्रभाव से सम्राट् अशोक का बदलना और अशोक की सत्ता के सहयोग से बुद्ध धर्म का समस्त एशिया में फैल जाना एक ऐसी सच्चाई है, जिससे इनकार नहीं किया जा सकता है। समर्थ गुरु रामदास जानते थे कि धर्म-प्रवचनों से ही काम चलने वाला नहीं है, सुशासन की स्थापना भी आवश्यक है। अस्तु, उन्होंने शिवाजी जैसे अपने प्रधान शिष्य को इस मार्ग पर अग्रसर किया। अग्रसर ही नहीं किया, अपने द्वारा स्थापित ७०० महावीर देवालयों के माध्यम से आवश्यक रसद, पैसा तथा सैनिक जुटाने की भी व्यवस्था की, शिवाजी उसी सहयोग के बल पर स्वतंत्रता संग्राम की ऐतिहासिक भूमिका प्रस्तुत कर सके। गुरु नानक का पंथ एक प्रकार से स्वाधीनता के सैनिकों से ही बदल गया। उसने "एक हाथ में माला और एक हाथ में भाला" का आदर्श प्रस्तुत करके यह बता दिया कि राजतंत्र और धर्म तंत्र को विरुद्ध दिशाओं में नहीं चलने देना चाहिए, वरन् उनके कदम एक ही दिशा में उठने की आवश्यकता हर कीमत पर पूरी की जानी चाहिए। बंदा-बैरागी ने सच्चे अध्यात्मवादी का उदाहरण प्रस्तुत किया और समाधि-साधना एवं ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण की तरह ही अपना सर्वस्व राजनीति की सदाशयता की ओर मोड़ने के प्रयास में उत्सर्ग कर दिया।

भगवान् का धर्म से ही सीधा संबंध जुड़ता है, पर अधर्म के अभिवर्धन के प्रधान कारण दुःशासन को बदलने के लिए वे

समय-समय पर अवतार धारण करते हैं। कच्छ, मच्छ, वाराह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध आदि अवतारों ने कुशासन के विरुद्ध सीधी कमान सँभाली। उनकी लीलाओं में इस प्रकार के उन्मूलन एवं परिवर्तन का घटनात्मक क्रम ही प्रधान है। अवतारों ने अन्य चरित्र भी दिखाये होंगे, पर उन्हें जिस प्रमुख प्रयोजन के लिए आना पड़ा, वह अधर्म की सत्ता को समाप्त करो धर्म स्थापना के लिए उपयुक्त वातावरण बनाना ही प्रधान कार्य था। अगला निष्कलंक अवतार जो होने जा रहा है, उसकी दृष्टि भी सुशासन की स्थापना पर ही होगी।

द्रोणाचार्य ने इस सच्चाई को दो टूक स्पष्ट कर दिया है। वे कहते थे—

अग्रतः चतुरो वेदः पृष्ठतः सशरं धनु।
इदं ब्राह्मणं इदं क्षात्र शास्त्रादपि शरादपि।।

—महाभारत

हम वेदों को आगे रखकर लोगों को समझाने और सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करते हैं। साथ ही पीठ पर धनुष-बाण भी रखते हैं। यह धर्म शिक्षा 'ब्राह्म' है और यह शस्त्र धारण 'क्षात्र' है। दोनों शक्तियों के समन्वय से ही समस्यायें सुलझती हैं।

उपर्युक्त सत्य का प्रतिपादन करने वाले तथ्यों से इतिहास के पन्ने भरे पड़े हैं। वर्तमान समय में महात्मा गांधी जिन्हें इस युग का धर्म पुरुष कह सकते हैं। अपनी जीवन साधना से राजनीति का प्रधान समन्वय करके यह आदर्श प्रस्तुत करते रहे हैं कि धर्म और राजनीति एक-दूसरे के विरोधी नहीं, वरन् पूरक हैं। लोकमान्य तिलक, महामना मालवीय, स्वामी श्रद्धानंद, जैसे धर्मवेत्ता मनीषियों ने अपनी धर्म साधना के साथ राजनीति को भी अविच्छिन्न रूप से जोड़े रखा। इससे उनकी धार्मिकता घटी नहीं, वरन् प्रखर एवं समुज्ज्वल ही होती चली गई।

शासन आज जिस तरह जीवन के हर पक्ष में प्रवेश करता चला जाता है और धीरे-धीरे व्यक्ति जिस तरह राज्य की कठपुतली बनने जा रहा है, उस बारीकी को समझने वाला कोई सूक्ष्मदर्शी व्यक्ति राजनीति से सर्वथा पृथक् धर्म की कल्पना भी

नहीं कर सकता। जो धर्म को राजनीति से अलग होने की बात कहते या समझते हैं, उन्हें नितांत भोला ही कहा जा सकता है। प्रतिकूल राजनीति में धर्म का जीवित रहना संभव भी नहीं। रूस, चीन आदि साम्यवादी देशों की धार्मिकता की कैसी दुर्गति हुई ? यह सबके सामने है। तिब्बत का धर्म शासन करने वाले नागाओं को राजनैतिक प्रतिकूलता ने कहाँ से लाकर कहाँ पटक दिया ? राजाश्रय पाकर ईसाई चर्च कितनी प्रगति कर रहा है और मध्य युग में राज्याश्रय ने इस्लाम धर्म को विकसित होने में कितनी सहायता की ? इन तथ्यों से कोई मूर्ख ही आँखें मींच सकता है।

इन तथ्यों के जानते हुए भी हम और हमारा संगठन राजनीति में क्यों प्रवेश नहीं करते, इसके संबंध में लोग हमें उलाहना देते और भूल सुधारने के लिये आग्रह करते हैं। वे जानते हैं कि हम लोग शासनतंत्र में प्रवेश करने में बहुत दूर तक सफल हो सकते हैं। इसलिये उनकी आतुरता आदि भी अधिक रहती है। कितनी ही राजनैतिक पार्टियों द्वारा अपनी ओर आकर्षित करने और प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में सम्मिलित होने के लिए डोरे डाले जाते रहते हैं और इसके बदले वे हमें किस प्रकार संतुष्ट कर सकते हैं, इसकी पूछ-ताछ करते रहते हैं ? यह सिलसिला मुद्दतों से चलता रहा है और जब तक हम विदाई नहीं ले लेते तब तक चलता ही रहेगा और हो सकता है कि परिवार वर्तमान क्रम से आगे बढ़ता रहा और सशक्त बनता रहा तो इस प्रकार के दबाव उस पर आगे भी पड़ते रहें।

इस संदर्भ में हमारा मस्तिष्क बहुत ही साफ है। शीशे की तरह उसमें पूर्णतया स्वच्छता है। बहुत चिंतन और मनन के बाद हम एक निष्कर्ष पर पहुँचे हैं और बिना लाग-लपेट छिपाव व दुराव के अपनी स्वतंत्र नीति निर्धारण करने में समर्थ हुए हैं। हम सीधे राजनीति में प्रवेश नहीं करेंगे, वरन् राजनीति को प्रभावित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका संपादित करेंगे और यही अंत तक करते रहेंगे। अपना संगठन यदि अपने प्रभाव और प्रकाश को सर्वथा तिरस्कृत नहीं कर देता तो उसे भी इसी मार्ग पर चलते रहना होगा।

भारत की वर्तमान राजनैतिक रीति-नीतियों—शासन की गतिविधियों और तंत्र की कार्य प्रणाली पर आमतौर से सभी को असंतोष है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ५३ वर्षों की लंबी अवधि में जो हो सकता था, वह नहीं हुआ। तथाकथित आर्थिक प्रगति की बात भी विदेशी ऋण और युद्ध स्थिति तथा बढ़ती हुई बेकारी, गरीबी को देखते हुए खोखली है। नैतिक स्तर ऊपर से नीचे तक बुरी तरह गिरा है। विद्वेष और अपराधों की प्रवृत्ति बहुत पनपी है। गरीब अधिक गरीब बने हैं और अमीर अधिक अमीर। शिक्षा की वृद्धि के साथ-साथ जो सत्प्रवृत्तियाँ बढ़नी चाहिए थीं, इस दिशा में घोर निराशा ही उत्पन्न हुई है। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में देश की साख बढ़ी नहीं, घटी है। मित्रों की संख्या घटती और शत्रुओं की बढ़ती जा रही है। शासन में कामचोरी और रिश्वतखोरी की प्रवृत्ति बहुत आगे बढ़ गई है और भी बहुत कुछ ऐसा ही हुआ है, जो आँखों के आगे प्रकाश नहीं अंधेरा ही उत्पन्न करता है। अपनी इस राजनैतिक एवं प्रशासकीय असफलता पर हम में से हर कोई चिंतित और दुःखी है। स्वयं शासक वर्ग भी समय-समय पर अपनी इन असफलताओं को स्वीकार करते हैं। जिन्हें अधिक क्षोभ है, वे उदाहरण प्रस्तुत करके शासनकर्ताओं की कटु शब्दों में भर्त्सना करते सुने जाते हैं और अमुक पार्टी को हटाकर अमुक पार्टी के हाथ में शासन सौंपने की बात का प्रतिपादन करते हैं।

हमारे चिंतन की दिशा अलग है, हम अधिक बारीकी से सोचते हैं। शासन की असफलता से हम दुःखी हैं। हमें बहुत खेद है कि विगत ५३ वर्षों में जितना बढ़ा जा सकता था, उतना नहीं बढ़ा गया। प्रगति कुछ भी न हुई हो सो बात नहीं, पर दूसरे देशों की तुलना में हमारी चाल इतनी धीमी है कि इस क्रम से हजार वर्ष में भी प्रगतिशील देशों की पंक्ति में भौतिक दृष्टि से भी खड़े न हो सकेंगे। गांधी जी के धर्मराज्य, रामराज्य और विश्व मंगल की आध्यात्मिक प्रगति तो अभी लाखों मील आगे की बात है।

इन परिस्थितियों के लिए किसी राजनेता या पार्टी को दोष देकर अपना जी हल्का नहीं कर सकते, वरन् गंभीरता से उन कारणों

को तलाश करते हैं, जिनके कारण यह विकृतियाँ उत्पन्न हुई हैं। रोग का कारण प्रतीत होने पर ही उसका उपचार संभव है। दूसरों की तरह उथला नहीं अधिक गंभीर और दूरदर्शी होने की ही किसी दार्शनिक से आशा की जानी चाहिए। देखना यह होगा कि यह सब क्यों हो रहा है ? अपना एक हजार वर्ष का इतिहास देशी और विदेशी सामंतवाद द्वारा प्रजा के उत्पीड़न का है। इस उत्पीड़न को सरल बनाये रखने के लिए जनता का मनोबल गिरा और बिखराव रखा जाना जरूरी था, सो तत्कालीन दार्शनिकों द्वारा ऐसी विचारधाराओं का प्रचलन किया गया, जो उपरोक्त प्रयोजन पूरा कर सकें। शासन की दृष्टि से प्रजा ने नृशंसता पाई एवं दर्शन की दृष्टि से भ्रांत 'ब्राह्म' और 'क्षात्र' दोनों ही अवांछनीय स्वार्थों की सिद्धि में लगे थे। प्रजा इस चक्की में भौतिक और आत्मिक दृष्टि से निरंतर पददलित होती रही। यही एक तथ्य है जिसने भारत जैसी उत्कृष्ट परंपराओं वाली प्रजा पर हजार वर्ष जितनी लंबी अवधि तक पददलित रहने का कलंक लगाया।

इन विपन्न परिस्थितियों से देश को उबारने के लिये यों छुट-पुट प्रयत्न बहुत पहले से चल रहे थे, पर उन्हें सुसंगठित और सुसंचालित होने का श्रेय गांधी जी के नेतृत्व को मिला। वे असली कारण जानते थे और प्रयत्नशील थे कि रचनात्मक कार्यों और बौद्धिक जागरण व स्वतंत्र चिंतन के माध्यम से प्रजा के मनोबल, चरित्र स्तर, स्वाभिमान एवं शौर्य को जगाया-बढ़ाया जाय। स्वतंत्रता संग्राम वे धीरे-धीरे चला रहे थे। क्रांतिकारियों से उनके मतभेद का मूल कारण यह था कि वे चाहते थे, स्वराज्य धीरे-धीरे उस क्रम से आये— जिस क्रम से देश उसे सँभालने योग्य प्रतिभा अपने में पैदा कर ले। स्वतंत्रता संग्राम के साथ चर्खा, खादी, हरिजन सेवा, ग्रामोद्योग, राष्ट्रीय शिक्षा, सफाई जैसी प्रवृत्तियों को जोड़ देना यों बहुत अटपटा लगता है। असहयोग आंदोलन और सत्याग्रह की दार्शनिकता कितनी ही ऊँची क्यों न हो, पर उसका व्यावहारिक पक्ष यह था कि इन सरलतम उपायों द्वारा जनता अपनी मूल चेतना विकसित करे और स्वराज्य धारण कर सकने में समर्थ हो जाए। वे जानते थे कि विभूति प्राप्त करने से अधिक कठिन उसे पचाना होता है। शक्ति की असली परीक्षा कोई सफलता प्राप्त कर

लेना भर नहीं है, वरन् उसके सदुपयोग से ही प्राप्तिकर्ता का गौरव आँका जाता है। भागीरथ गंगा अवतरण की पृष्ठभूमि बनाने में सफल हो गये थे, पर उस धारा को सुव्यवस्थित रूप में प्रवाहित करने के लिए शंकर जी को अपनी जटायें फैलानी पड़ीं। यही सर्वत्र होता है। गांधी जी के मन में स्वराज्य प्राप्त करने की जल्दी नहीं थी, वे जनता को उस आंदोलन महायज्ञ से प्रबुद्ध, सतर्क और सक्षम बना रहे थे।

क्रांतिकारी कहते थे कि बिना शस्त्र धारण किये और मजबूरी प्रस्तुत किये बिना अंग्रेज जाने वाले नहीं हैं। बात उन्हीं की सच्ची निकली। सन् १९४२ में क्रांतिकारी तोड़-फोड़ ने सिद्ध कर दिया कि असहयोग सत्याग्रह नहीं, शस्त्र धारण ही वर्तमान स्थिति में राजक्रांतियों की अनिवार्य आवश्यकता है। इस तथ्य को गांधी जी भी मानते थे। वे स्वराज्य की उतावली में न थे वे जनता की उन दुर्बलताओं को हटाने में लगे थे, जो पिछले हजार वर्ष के अज्ञानांधकार युग में पीढ़ी दर पीढ़ी के हिसाब से चलते रहने पर उसके स्वभाव में सम्मिलित हो गई थीं। अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने जब भारत को स्वराज्य दिला ही दिया था, तो वे इस असामयिक उपलब्धियों से जितने प्रसन्न थे उतने ही चिंतित भी। जन जागरण का प्रयोजन पूरा नहीं हो सका था इसलिए उन्हें चिंता थी कि इस गंगावतरण का सुसंचालन कैसे होगा ? उन दिनों उन्होंने एक अति महत्त्वपूर्ण सुझाव रखा था कि—कांग्रेस लोकसेवा संस्था का रूप धारण करे और जनजागरण के नितांत आवश्यक कार्य में ही जुटी रहे। राजतंत्र चलाने के लिए एक उस स्तर के लोगों की पिछली पंक्ति बना दी जाय। प्रजा पर प्रभाव रखकर कांग्रेस, राजनेताओं की नियुक्ति एवं उनकी रीति-नीति पर नियंत्रण करे, पर स्वयं उससे पृथक् रहकर वह जनमानस के परिष्कार का मूल प्रयोजन पूरा करे, जो किसी राष्ट्र की सर्वतोमुखी प्रगति का—यहाँ तक कि सुशासन का भी मूल आधार है।

उन दिनों परिस्थितियाँ विचित्र थीं। कांग्रेस नेता गांधी जी से सहमत न हो सके। सारी शक्ति राजतंत्र को सँभालने में लग गई।

रचनात्मक कार्यों में विश्वास करने वाले लोकसेवी भी तंत्र में खप गये। सबका ध्यान सत्ता की ओर चला गया। सत्ता एक नशा है, उसका चस्का जिसे लगा कि फिर वह उसी घाट का हो लिया। कांग्रेस और उसका परिवार उसी दिशा में चल पड़ा। जनजागरण के लिए जिन रचनात्मक एवं संघर्षात्मक कार्यक्रमों की जरूरत थी वे या तो विस्मृत हो गये या उनकी लकीर पिटती रही। अन्य छोटी- बड़ी राजनैतिक एवं सामाजिक स्तर की संस्थाओं का भी यही हाल हुआ। उन्होंने भी अपनी बड़ी बहिन का अनुकरण किया। अपना बाहरी जामा वे कुछ भी बनाये रहीं हों, भीतर ही भीतर सत्ता-संघर्ष के लिए चल रही विभिन्न पार्टियों की प्रतिद्वंद्विता में ही वे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में शामिल थीं। ध्यान बटा सो बटा। पिछले ५३ वर्षों में जिस बौद्धिक, सामाजिक एवं नैतिक क्रांति की जरूरत थी, शिक्षा और कला के महान् माध्यमों की सृजनात्मक दिशा किसी ने कुछ नहीं दिया। इस भूल को हम ईमानदारी से स्वीकार कर लें तो कुछ हर्ज नहीं है।

दिशा भूलने का—जनमानस में हजार वर्ष की गुलामी की कुसंस्कारी प्रक्रिया हटाने की उपेक्षा करने का जो परिणाम होना चाहिए था, वह सामने हैं। उन परिस्थितियों से उत्कृष्ट राजनेतृत्व एवं आदर्श शासनतंत्र की आशा रखना व्यर्थ है। राजनेताओं का चुनाव होता है। चुनावों द्वारा प्रतिनिधि चुने जाते हैं और उनके चुनाव से सरकारें बनती हैं। जनता का जो स्तर है, उसमें चुनाव जीतने के लिए पैसे को पानी की तरह बहाने की, जाति-पाँति के नाम पर लोगों को बरगलाने की; व्यक्तिगत या स्थानीय लाभ दिलाने के सब्ज-बाग दिखाने की अनिवार्य आवश्यकता पड़ती है। जो यह सब तिकड़में भिड़ाने में समर्थ न हों उसका चुनाव जीतना कठिन है। जनता का स्तर ही ऐसा है कि वह वोट का मूल्य और उसके दूरगामी परिणामों को अभी समझ ही नहीं पाई। झाँसेपट्टी और वास्तविकता का अंतर करना उसे आया नहीं। इसलिए चुनाव में वे लोग जीत न सके, जो रामराज्य स्थापित कर सकने में सचमुच समर्थ हो सकते थे। जनता ने अपने स्तर के विधायक चुने। उन विधायकों ने अपने स्तर की सरकारें बनाईं, उन सरकारों के संचालकों ने वही किया, जो जनता

कर रही है या कर सकती है। जड़ के आधार पर पत्ते बनते हैं। धतूरे के बीज से उगे पौधे पर शहतूत कहाँ से लगें ?

राज्य शासन के संचालन में जो व्यक्ति काम करते हैं, उनकी मनोभूमि एवं कार्यशैली ही शासन तंत्र के संचालन का स्वरूप निखारती है। कानून कितने ही अच्छे क्यों न हों, नीतियाँ कितनी ही निर्दोष क्यों न हों, योजनायें कितनी ही बढ़िया क्यों न हों, उनके संचालन का भार जिस मशीनरी पर है, उसके पुर्जे यदि घटिया होंगे तो सारा गुड़ गोबर होता रहेगा। सरकार कई योजनायें बनाती और चलाती है, पर उसका स्वरूप जनता तक पहुँचते- पहुँचते विकृत हो जाता है क्योंकि जिनके हाथ में उस प्रक्रिया के संचालन का भार है, वे उतने शुद्ध नहीं होंगे जितने होने चाहिए। अपराधों के रोकने और अपराधियों को पकड़ने की जिम्मेदारी जिस मशीन पर है। यदि वह ऊँचे स्तर की हो और भावनापूर्वक काम करे तो निस्संदेह अपराधों का उन्मूलन हो सकता है। उपयोगी कार्यों के लिये ऋण या अनुदान बाँटने वाली मशीन यदि स्वच्छ हो तो वह धन खुर्द-बुर्द न होकर सचमुच संपत्ति और सुविधा बढ़ाने में समर्थ हो सकता है। शिक्षा देने वाली मशीन यदि भावनाओं से ओत-प्रोत हो तो छात्रों को ढालने में उन व्यक्तियों का जादू आश्चर्यजनक ढलाई का प्रतिफल प्रस्तुत कर सकता है। सरकारी कानूनों या योजनाओं में उतना दोष नहीं है, जितना कि प्रस्तुत प्रक्रिया का संचालन करने वाली मशीनरी की आदर्शवादी भावनाओं का न्यूनतम रूप है।

प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह शासन संचालन करने वाली मशीन कैसे उत्कृष्ट बने ? तो फिर बात लौटकर वहीं आ गई। सरकारी कर्मचारी आकाश से नहीं उतरते। वे जनता के ही बालक होते हैं। उन्होंने अपने घर-परिवार से संबद्ध समाज में जो कुछ देखा, सुना, समझा, अनुभव किया है उसी के आधार पर उनका मानसिक स्तर एवं चरित्र ढला है। नौकरी पाते ही वे उन सारे संस्कारों को भुलाकर देवता बन जायें, यह आशा करना व्यर्थ है। उसी प्रकार पैसे लेकर वोट बेचने वाली, जाति-पाँति का पक्षपात करने वाली, व्यक्तिगत या क्षेत्रीय लाभ के प्रलोभनों से आकर्षित होने वाली अदूरदर्शी जनता से यह

आशा करना व्यर्थ है कि वह उन्हें चुनेगी जो सुयोग्य एवं आदर्शवादी तो हैं, पर पैसा लुटाने या बहकाने वाले हथकंडे अपनाने में समर्थ नहीं। यह एक सच्चाई है कि प्रजातंत्र में जनता के स्तर की ही सरकार बनती है और उसी स्तर की सरकारी मशीन चलती है।

पार्टियों की सत्ता बदले, इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। पिछले तीन-चार वर्षों में कांग्रेस का एकाधिकार नहीं रहा। कई पार्टियों की अलग या सम्मिलित सरकारें बनीं, उन्होंने भी कोई अलग आदर्श प्रस्तुत नहीं किया, जिस कीचड़ में कांग्रेस का छकड़ा घिसट रहा था, उसी में वे खड़खड़ियाँ भी धँस गईं। सच्चाई यह है कि इन परिस्थितियों में कुछ हो ही नहीं सकता। प्रबुद्ध लोकमत जाग्रत् हुए बिना—आया राम गया राम की हथफेरी रुक ही नहीं सकती। अल्पमत को बहुमत में और बहुमत को अल्पमत में बदलने के लिए प्रलोभन और आतंक का वर्तमान दौर अनंत काल तक चलता रहेगा। यदि विधायकों को अपनी जनता के रोष एवं अवरोध का भय उत्पन्न न हुआ, तो इसी प्रकार जो भी सरकार सत्ता में आयेगी उसके मंत्री यदि अपने समर्थकों के, अपने क्षेत्र के लिये सरकारी मशीन से काम लेंगे, तो उन पुर्जों को अपने स्वार्थ साधने की भी छूट देती होगी, फिर प्रशासन शुद्ध कैसे होगा ?

मूल समस्या यही है। किस पार्टी की सरकार बने ? वह किन योजनाओं को कार्यान्वित करे ? यह प्रश्न कम महत्त्व के हैं। अधिक महत्त्व के प्रश्न यह हैं कि चुनाव बिना खर्च कराये, उपयुक्त व्यक्तियों को चुनने का जनस्तर कैसे बने ? और सरकारी मशीन में पुर्जे बनने वाले कर्मचारी घर से ही आदर्शवादी एवं भावनासंपन्न बनकर वहाँ तक कैसे पहुँचें ? यह समस्या पर्दे के पीछे दीखती है, पर है यही सबसे महत्त्वपूर्ण। इसे हल किये बिना तथाकथित प्रगति में खोखलापन ही बना रहेगा। प्रजातंत्र की जड़ जनता है। जहाँ जनता का स्तर ऊँचा होगा, वहीं प्रजातंत्र सफल हो सकेगा। हमें यदि प्रजातंत्र पसंद है तो उसकी सफलता की अनिवार्य शर्त जनता का भावनात्मक एवं चारित्रिक स्तर भी ऊँचा उठाना ही पड़ेगा। अन्यथा शिकायतें करते रहने के अतिरिक्त और कुछ हाथ न

लगेगा। स्वराज्य प्राप्ति के समय गांधी जी इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये चिंतित थे और जोर दे रहे थे कि कांग्रेस, शासन में न जाये, वरन् लोकमानस का निर्माण करने के अधूरे किंतु अति महत्त्वपूर्ण कार्य को सँभालने में ही दत्त चित्त होकर जुटी रहे।

तथ्य, तथ्य ही रहेगा; आवश्यकता, आवश्यकता ही रहेगी। एक उसे पूरा नहीं करता तो दूसरे को अपना कंधा लगाना चाहिए। यही रचनात्मक तरीका है। स्वतंत्रता संग्राम में १२ वर्ष तक निरंतर मोर्चे पर लड़ते रहने वाले सैनिक के रूप अड़े रहने के उपरांत उस संग्राम की पूरक परिधियों के महत्त्व को हम समझते रहेंगे। हमारा विश्वास है कि बौद्धिक क्रांति, सामाजिक क्रांति एवं नैतिक क्रांति की त्रिवेणी बहाए बिना तीर्थराज न बनेगा और उसमें स्नान किये बिना हमारे पाप-ताप न कटेंगे। राजनैतिक स्वतंत्रता का लाभ तभी प्राप्त किया जा सकेगा, जब उसके साथ ही बौद्धिक, सामाजिक एवं नैतिक क्षेत्रों के कालनेमि की तरह भ्रमे हुए पराधीनता पाश से मुक्त कराया जा सके। स्वतंत्रता का एक चरण अभी प्राप्त हुआ, तीन मोर्चों पर लड़ा जाना अभी भी शेष है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए हम उसी प्रयत्न में निरंतर प्रयत्नशील रहे हैं। दूसरे सैनिकों ने अपनी वर्दियाँ उतार दीं और राजमुकुट पहन लिये, पर अपने लिए आजीवन उस चिंतन-लक्ष्य की ओर चलते रहना ही धर्म बन गया है, जिसके ऊपर राष्ट्र की सर्वतोमुखी समर्थता निर्भर है। राष्ट्र की बात ही क्यों साचें, विश्व कल्याण का मार्ग भी यही है जन जागरण और लोकमानस में उत्कृष्टता, आदर्शवादिता का बीजांकुर बोया जाना, वस्तुतः इस धरती पर स्वर्ग के अवतरण का अभिनव प्रयोग है। हम इसी दूरगामी परिणाम उत्पन्न करने वाली प्रक्रिया को हाथ में लेकर धर्म साहस, निश्चय और प्रबल पुरुषार्थ के साथ आगे बढ़ रहे हैं और जहाँ तक हमारा प्रभाव क्षेत्र है, उसे उसी दिशा में घसीटते लिये चल रहे हैं।

हम जानते हैं कि जन मानस के अंतरंग का स्पर्श करने और कोमल भावनाओं को संवेदनशील बनाने की क्षमता राजतंत्र में नहीं है। उसकी मूल प्रकृति और प्रवृत्ति दूसरी है। कूटनीति राजनीति का पर्यायवाची बन गया है। उस स्तर में जो कुछ होगा, लोग उसमें

अकारण ही किसी कूटनीति या दुरभिसंधि की गंध सूँघेंगे। इसलिये राजतंत्र के द्वारा इस प्रकार के प्रयत्न या प्रयोग जब कभी हुए हैं, उन्हें असफलता ही हाथ लगी है। यह क्षेत्र वस्तुतः धर्म एवं दर्शन का है। बौद्धिक सामाजिक एवं नैतिक क्रांति के लिए विचारणा का स्तर बहुत गहराई में बदलना होगा। उथला बदलाव कोई स्थिर परिणाम उत्पन्न न करेगा। इस प्रयोजन की पूर्ति से केवल धर्मतंत्र ही समर्थ हो सकता है। राजनैतिक स्तर पर बाल विवाह, छुआ-छूत निवारण, दहेज उन्मूलन, व्यभिचार विरोधी कानून बने हुए हैं, पर उनको कितना माल मिला और कितना परिणाम निकला, यह सबके सामने हैं। भौतिक सुधार करना राजतंत्र का क्षेत्र है। भावनात्मक सुधार के लिए प्रजातंत्र के वातावरण में केवल धर्मतंत्र ही समर्थ हो सकता है। प्रजातंत्र हटाकर अधिनायकवाद आना है तो आतंक के आधार पर विचार परिवर्तन भी संभव है, पर वह प्रयोग महँगा है। व्यक्ति का विचार स्वतंत्रता अपहृत हो जाने पर वह एक मशीन मात्र रह जाता है और सांस्कृतिक प्रगति की जिस महान् प्रक्रिया ने मानव जाति को यहाँ तक पहुँचाया है, उसका द्वार ही बंद हो जाता है। हम प्रजातंत्र पसंद करते हैं। उसमें बहुत खूबियाँ और संभावनायें सन्निहित हैं। फिर प्रजातंत्र की परिधि में जनमानस का निर्माण करना धर्म एवं अध्यात्म का ही क्षेत्र रहता है।

हम यही कर रहे हैं। धर्म और अध्यात्म को हमने मानव जाति की सामयिक प्रगति के लिए नियोजित किया है। पिछले दिनों उसमें जो अवांछनीयता घुस पड़ी थी, उसे सुधारा है। धर्म मंच अब तक प्रतिगामियों का दुर्ग समझा जाता है; हमने उसे नई दिशा दी है और उसकी मूल प्रवृत्ति प्रगतिशीलता को उभारा है। धार्मिक प्रथा-परंपराओं, रीति-रिवाजों, कर्मकांडों और मान्यताओं के बाह्य स्वरूप को यथावत् रखते हुए उनकी दिशा और प्रवृत्ति में क्रांतिकारी परिवर्तन प्रस्तुत किया है। यही कारण है कि जिस क्षेत्र की ओर से नाक-भौं सकोड़ी जाती थीं और निराशाजनक माना जाता था, अब उसे मानवीय प्रगति की निर्णायक भूमिका संपादन करने में समर्थ माना जाने लगा है। पिछले दिनों कुछ क्षुब्ध वर्ग तोड़-फोड़ में लग गये थे। वे दीर्घकालीन परंपराओं को उखाड़कर आमूल-चूल परिवर्तन लाना चाहते थे। वे भूल

जाते थे कि ८० प्रतिशत देहातों में बसे हुए और ७० फीसदी अशिक्षित देश के लिये धर्म परंपराओं में क्रांतिकारी तोड़-फोड़ सरल नहीं है। वे प्रयत्न भी लगभग असफल हो गये। अपनी सुधारात्मक प्रक्रिया, आँधी-तूफान की तरह इसलिए सफल होती चली जा रही हैं कि हमने धर्म-प्रथाओं एवं कलेवरों के बाह्य स्वरूप में हेर-फेर किये बिना उनके मूल प्रयोजन में क्रांतिकारी परिवर्तन कर दिया है।

इस प्रकार परोक्ष रीति से हम राजनीति में भाग ले रहे हैं और राजनैतिक शुद्धता एवं प्रखरता की पृष्ठभूमि तैयार कर रहे हैं। प्रत्यक्ष राजनीति में बहुत लोग घुसे पड़े हैं, वहाँ इतनी भीड़ है जिसे बढ़ाया नहीं, घटाया जाना चाहिए। प्रजातंत्र की मूल शक्ति जनता में निर्धारित रहती है। जनता अपना बौद्धिक, सामाजिक एवं नैतिक स्तर ऊँचा उठाये बिना ऊँचे स्तर का शासन एवं राजनेतृत्व प्राप्त कर नहीं सकेगी।

हम राजनीति से अलग नहीं है, न उसका मूल्य कम कर रहे हैं, बात इतनी भर है कि हम जड़ में खाद, पानी डालने वाले माली बने रहना चाहते हैं। फूल और फल का व्यापार दूसरे लोग करें, इसमें न हमें कोई आपत्ति है और न ईर्ष्या। हम अनुभव करते हैं, उथले राजनीतिज्ञों की अपेक्षा हम अधिक ठोस और अधिक महत्त्वपूर्ण राजनीति अपना रहे हैं और हमारे प्रयत्नों का फल किसी भी राजनैतिक पार्टी या उसकी सरकार की अपेक्षा सत्परिणाम उत्पन्न करेगा। गांधी जी का जनमानस निर्माण का काम अधूरा रह गया था। हमें उनके शेष को पूरा करने वाली कुली, मजूर की तरह जुटे रहना मंजूर है। दूसरे लोग उनके तप का प्रतिफल चखें—चखते रहें। अपने मुँह से उनके लिए लार टपकने वाली नहीं है। हम स्वस्थ राजनीति के विकसित हो सकने की संभावना वाला भवन बनाने में नीव के पत्थर मात्र बनकर रहेंगे और जो भी हमारे प्रभाव संपर्क में आवेगा, उसे इसी दिशा में प्रेरित, आकर्षित करते रहेंगे।

लोकमानस के प्रति शासनतंत्र का उत्तरदायित्व

किसी जमाने में राजतंत्र का प्रभाव प्रजा की सुरक्षा तक सीमित था। बाहर के आक्रमणकारियों से युद्ध और भीतर के चोर, डाकू, दुष्ट, दुराचारियों को दंड, प्रायः इतना ही कर्तव्य राजा लोग निबाहते थे। इन्हीं प्रयोजनों के लिए शस्त्र सज्जा, सेना जुटाये रहते थे। उस सुरक्षात्मक शासन व्यवस्था का व्यय भार प्रजाजन टैक्सों के रूप में अदा करते थे। जनमानस को सुव्यस्थित और लोक-प्रवृत्तियों को परिष्कृत करने का काम धर्मतंत्र सँभालता था, शिक्षा, चिकित्सा, लोकमंगल के व्यक्तिगत और सामूहिक कार्यों का संचालन, संत-मनीषियों द्वारा संपन्न होता था। उनका व्यय भार जनता श्रद्धासिक्त दान-दक्षिणा के रूप में पूरा करती थी। राजकोष में जो पैसा बच जाता था, वह उन्हीं धर्म पुरोहितों को दे दिया जाता था, वे समय और आवश्यकता के अनुरूप जिन कार्यों में उचित समझते थे, उस दान धन का उपयोग करते थे। उस पर कोई नियंत्रण-प्रतिबंध इसलिये नहीं था क्योंकि दान के श्रद्धासिक्त धन का श्रेष्ठतम उपयोग क्या किया जाय ? किस तरह किया जाय ? इसका सर्वोत्तम निर्णय वे धर्म पुरोहित स्वयं ही कर सकने में समर्थ थे।

समय की गति ने धर्मतंत्र को दुर्बल कर दिया और निकम्मा भी। राजतंत्र की परिधि बढ़ती गई। अब शासन केवल सीमा सुरक्षा और अपराधियों को दंड देने तक सीमित नहीं रहा, उसका क्षेत्र बढ़ते-बढ़ते जीवन के हर क्षेत्र और समाज के हर कार्य के साथ जुड़ता चला आ रहा है। शिक्षा का पूरी तरह निर्धारण और प्रबंध सरकार करती है। चिकित्सा, परिवहन, यातायात, डाक-तार, बैंक, बीमा, व्यवसाय, उत्पादन आदि पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रीति से सरकारी नियंत्रण ही स्थापित है। कर नीति सरकार के हाथ में चली जाने से अब किसी भी व्यवसाय का बढ़ना-घटना पूर्णतया सरकार की इच्छा पर निर्भर है। अन्न, वस्त्र तक के लिये हमें सरकारी इच्छा का अनुसरण करना पड़ता है। धीरे-धीरे यह नियंत्रण अधिक व्यापक होता चला जा रहा है और व्यक्ति तथा समाज की सभी गतिविधियों पर शासन की नीति का

प्रभाव बढ़ता चला जा रहा है। वह दिन दूर नहीं, जब समस्त संपत्ति और सुविधा-साधनों पर शासकीय नियंत्रण ही दिखाई देगा और व्यक्ति को मात्र मशीन की तरह शासन की इच्छा पर गतिविधियाँ निर्धारित करनी पड़ेंगी। साम्यवाद ऐसी ही स्थिति का प्रतिपादन करता है। प्रजातंत्र हो या कोई और शासन तंत्र, अब सम्मान इसी ओर है।

ऐसी दशा में सरकार का अधिक परिष्कृत होना आवश्यक है। अन्यथा उसमें घुसी हुई विकृतियाँ सारी प्रजा की गतिविधियाँ विकृत कर देंगी। राजनीति से कोई सीधा संबंध रखे या न रखें, पर उसे इतना ध्यान तो रखना ही होगा कि शासन का स्तर और स्वरूप भ्रष्ट न होने पावे। इससे कम सतर्कता रखे बिना आज का नागरिक कर्तव्य पूरा नहीं होता। इस संदर्भ में हमें वोट का अधिकार बहुत ही सावधानी से बरतना चाहिए और हर समीपवर्ती को इस राष्ट्रीय अमानत का श्रेष्ठतम उपयोग पूरी समझदारी और दूरदर्शिता के साथ करने के लिए सजग करना चाहिए। चुनाव के समय बरती गई उपेक्षा, अन्यमनस्कता जन-समाज के भाग्य भविष्य के साथ खिलवाड़ ही कही जायेगी। हमें चरित्रवान्, आदर्शवादी, लोकसेवी और परिष्कृत दृष्टिकोण वाले व्यक्तियों को ही वोट देना चाहिए। भ्रष्ट लोग—चुनाव के समय जन साधारण को प्रलोभन-बहकावे एवं भ्रांतियों में उलझाकर वोट ले जाते हैं और चुने जाने पर अपने स्वार्थों के लिए शासनतंत्र का दुरुपयोग करके ऐसी भ्रष्ट-परंपरायें और रीति-नीतियाँ चला देते हैं, जिनका भारी दुष्परिणाम देश को भोगना पड़ता है।

शासन के बढ़ते हुए क्षेत्र एवं प्रभाव को रोका नहीं जा सकता। आवश्यकता प्रजाजनों को इतना प्रशिक्षित करने की है कि वे अपने वोट का मूल्य समझ सकें और बिना किसी प्रलोभन बहकावे के उसका राष्ट्रहित में सर्वोत्तम उपयोग कर सकें। जहाँ यह सतर्कता न बरती जा सकी, वहाँ प्रजातंत्र अभिशाप ही बनकर रह जायेंगे। भ्रष्ट और धूर्तों के हाथ शासन सौंप देने पर अगणित दुष्प्रवृत्तियाँ पनपेंगी और प्रजा को अनेक जाल-जंजालों में फँसकर तरह-तरह के कष्ट उठाने पड़ेंगे। अस्तु जिन्हें राजनीति से सीधा संबंध न हो उन्हें भी वोट और उसके सदुपयोग के संबंध में तो अधिकतम जागरूक रहना ही चाहिए।

शासन के द्वारा प्रजा की भौतिक समस्याओं का समाधान कैसे किया जाय—इस पर विचार करना राजनीतिवेत्ताओं के लिए छोड़ देते हैं। लोकमानस के स्तर को अत्यधिक महत्त्व देने वाले और इसे ही समस्त परिस्थितियों का जनक मानने वाले हमारे जैसे लोगों की अधिक दिलचस्पी इस बात में है कि शासन के हाथ में चले गये जनमानस को प्रभावित करने वाले साधनों का दुरुपयोग न होने पाये। वस्तुतः यह विषय धर्मतंत्र का था। जन स्तर पर मनीषियों, तत्त्वदर्शियों और लोकसेवियों द्वारा यह क्षेत्र सँभाला जाना चाहिए था, पर दुर्भाग्य का अंत नहीं—धर्म पुरोहित जब स्वयं राजनेताओं की तुलना में व्यक्तित्व की दृष्टि से पिछड़ गये तो किस मुँह से उनके हाथ में लोकमानस के निर्माण की बात सौंपी जाए, अभी भी उनके हाथ में बहुत कुछ है। करोड़ों व्यक्ति उनके आगे माथा टेकते और वचन सुनते हैं। इस श्रद्धा को वे चाहते तो इस स्थिति में ही सृजन की दिशा में नियोजित कर सकते थे—पर वहाँ भी पोल ही पोल है। ऐसी दशा में यह माँग तो नहीं की जा सकती कि वर्तमान धर्म पुरोहितों को धर्मतंत्र से संबंध रखने वाले संदर्भ सौंप दिये जायें, पर इतना अवश्य है कि हमें मनीषियों का एक मंच बनाना अवश्य पड़ेगा, जो लोकमानस को प्रभावित करने वाले तथ्यों को सरकार द्वारा दुरुपयोग होने से बचाये और स्वयं संगठित रूप से जन स्तर पर उन भाव-प्रवृत्तियों को सँभाले, जो समस्त प्रकार की परिस्थितियों के लिए मूलतः उत्तरदायी हैं।

शिक्षा की इस दृष्टि से पहला स्थान है। शिक्षा प्रणाली निस्संदेह लोकमानस को बहुत हद तक प्रभावित करती है। प्रगतिशील राष्ट्रों ने अपनी प्रजा की मनोदशा अभीष्ट दिशा में ढालने के लिए शिक्षा पद्धति को बदला और ऐसा साँचा खड़ा किया, जिसमें पीढ़ियाँ ढलती चली गईं। जर्मनी, रूस, चीन, जापान आदि देशों ने अपनी प्रजा को एक खास दिशा में ढाला है, इसके लिए उन सरकारों ने सबसे अधिक ध्यान अपनी शिक्षा प्रणाली पर केंद्रित किया है। पाठ्यक्रमों के साथ-साथ विष या अमृत घोला जा सकता है और उसके प्रभाव से लोकरुचि में अभीष्ट परिवर्तन उत्पन्न किया जा सकता है। विद्यालयों का वातावरण, काम, व्यवहार, आचार सभी कुछ अभीष्ट स्तर के ढल

सकते हैं और अगले दिनों राष्ट्र का उत्तरदायित्व सँभालने वाले छात्रों को जैसा चाहिये वैसा बनाया जा सकता है।

यह मानना होगा कि अपनी सरकार इस दिशा में उतनी सजग नहीं, जितनी उसे होना चाहिए। यदि दूरदर्शितापूर्वक इस क्षेत्र को सँभाला गया होता तो आज शिक्षितों की बेकारी और उच्छृखंलता से उत्पन्न जो विभीषिका चारों ओर दीख पड़ रही है, उसकी कोई आवश्यकता न होती। तब ध्वंस में लगे हुए व्यक्तित्व-सृजन में संलग्न होकर परिस्थितियों में सुख-शांति के तत्त्व बढ़ा रहे होते। हमें सरकार पर शिक्षा प्रणाली बदलने और सुधारने के लिये दवाब डालना चाहिए, क्योंकि उसका सीधा प्रभाव जन मानस के स्तर पर पड़ता है। समूची राजनीति में किसी की पहुँच या दिलचस्पी न भी हो तो भी विचारणा को प्रभावित करने वाले तथ्यों की उत्कृष्टता, न बिगड़ने देने वाली बात को तो ध्यान में रखना ही चाहिए।

हमारे प्रयत्न सरकार को यह बताने और दबाने के लिए अधिक तीव्र होने चाहिए कि वह इस देश की परिस्थितियों का हल कर सकने वाली शिक्षा पद्धति प्रस्तुत करे। यह कैसे किया जाए ? उसके लिए हम जन स्तर पर कुछ नमूने पेश करके अधिक प्रभावशाली ढंग से अपना सुझाव पेश कर सकते हैं। मथुरा का युग-निर्माण विद्यालय इसी का नमूना है, उसमें (१) औसत जीवन में काम आने वाली भाषा, गणित, भूगोल, स्वास्थ्य, समाज कानून आदि की काम चलाऊ सामान्य जानकारी (२) व्यक्ति और समाज की वर्तमान समस्याओं के कारण और समाधान प्रस्तुत करने वाली विचारणा (३) शिल्प, गृह उद्योग, मरम्मत, कृषि, पशुपालन, सहकारिता, मितव्ययता जैसे अर्थ-साधनों की शिक्षा। इन तीनों विषयों का सम्मिश्रित स्वरूप एक पाठ्यक्रम के रूप में विकसित किया गया है। इसमें उन तत्त्वों का समावेश है, जो भारतीय शिक्षा पद्धति का नया ढाँचा खड़ा करने में मार्गदर्शक हो सकते हैं। छात्रावासों में रखकर एक विशेष वातावरण में शिक्षार्थियों को किस प्रकार ढाला जा सकता है, उसका अभिनव प्रयोग कोई भी शिक्षा प्रेमी मथुरा आकर देख सकता है और यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि अपने देश के लिए शिक्षा प्रणाली का विकास किस आधार पर कर सकना फलप्रद हो सकता है ?

सामाजिक प्रयत्नों के रूप में अध्यापक वर्ग कर्तव्य भावना से प्रेरित होकर शिक्षण के साथ-साथ इस बात का प्रयत्न कर सकता है कि श्रेष्ठ नागरिकों का निर्माण कैसे हो और छात्रों में सत्प्रवृत्तियाँ कैसे पनपें ? स्कूलों में जो कमी रह जाती है, उसकी पूर्ति के लिए जन स्तर पर पूरक पाठशालायें खोली जा सकती हैं। इन दिनों अपना प्रयत्न यही चल रहा है। पुरुषों के लिये रात्रि पाठशालायें और महिलाओं को अपराह्नशालायें चलाने के लिए अपना जो आंदोलन चला है, उसमें इस बात की संभावना विद्यमान है कि प्रस्तुत शिक्षा प्रणाली में रहने वाली कमी को इन पूरक पाठशालाओं द्वारा संपन्न किया जा सके। निरक्षरता-निवारण के लिये प्रौढ़ शिक्षा के प्रयत्न इस योजना में जुड़े रहने से उसकी उपयोगिता और भी अधिक बढ़ जाती है। ऐसे जन स्तर पर प्रयत्न खड़े करके अभाव की आंशिक पूर्ति भी की जा सकती है और प्रयोग की महत्ता प्रत्यक्ष अनुभव कराके शासन को इस बात के लिए मनाया-दबाया भी जा सकता है कि, वह सुधार की दिशा में किस तरह सोचे और किस तरह बदले ?

स्कूली शिक्षा के साथ विद्या का वह सारा क्षेत्र भी महत्त्वपूर्ण समझा जाना चाहिए, जो लोकमानस को प्रभावित कर सकने में समर्थ है। साहित्य भी एक प्रकार का प्रशिक्षण ही है, जिसके आधार पर लोकमानस का स्तर गिराया या उठाया जा सकता है। इस क्षेत्र में भी अपना दुर्भाग्य पीछा नहीं छोड़ रहा है। लेखक जो लिख रहा है, प्रकाशक जो छाप रहा है, बुकसेलर जो बेच रहा है, उसे ध्यानपूर्वक देखा, परखा जाए तो पता चलेगा कि इसमें से अधिकांश साहित्य तो मानस को विकृत करने वाला ही भरा पड़ा है। कामुकता भड़काने में साहित्य ने अति कर दी। उपन्यास, कथा, कहानी, कविता, विवेचन आदि में ऐसे ही संदर्भ भरे रहते हैं, जिनसे व्यक्ति की कामुक पशुता भड़के और उसके मस्तिष्क में यौन आकांक्षाओं के सपने भरे रहें। पत्र-पत्रिकाओं के मुख पृष्ठों पर जैसे चित्र छपते हैं और भीतर जो विषय रहते हैं, उनसे यह सिद्ध नहीं होता कि उन्हें लोकमंगल के लिये निकाला जा रहा हो। इस प्रयत्न का परिणाम नारी के प्रति अपवित्र दृष्टि, व्यभिचार, दांपत्य-जीवन की अव्यवस्था आदि विभीषिकाओं के रूप में सामने आ रही हैं। व्यक्ति शारीरिक और मानसिक दृष्टि से

दिन-दिन पतित होता चला जा रहा है। कामुकता भड़काने वाले साहित्य के बाद जासूसी, तिलिस्मी, जादूगरी, भूत-पलीत तथा अन्य प्रकार के भ्रम जंजाल फैलाने वाली, दुष्प्रवृत्तियों को जन्म देने वाली पुस्तकों से बाजार पटा पड़ा मिलेगा।

जो चीज तैयार की जायेगी आखिर वह खपेगी ही—और अंततः उसका प्रभाव पड़ेगा ही। साहित्य क्षेत्र में जो विष बीज बोये जा रहे हैं, उनका प्रभाव बौद्धिक भ्रष्टता के रूप में निरंतर सामने आता चला जा रहा है। सरकार का कर्तव्य है कि इसे रोके। प्रजातंत्रीय नागरिक अधिकारों का मतलब यह नहीं है कि समाज का सर्वनाश करने की खुली छूट लोगों को मिल जाय। श्रेष्ठ साहित्य सृजा जाय, उसके लिये सरकारी सहयोग, प्रोत्साहन मिलना चाहिये, पर जिस साहित्य से मानवीय दुष्प्रवृत्तियाँ भड़कने की आशंका है, उस पर नियंत्रण भी रहना चाहिए। कानून से विनाश रोका जा सकता है। ऐसे साहित्य के लिये कागज मिलने पर रोक लग जाय या दूसरे प्रतिबंध लग जायें तो घृणित साहित्य के सृजन में जो बुद्धि, संपत्ति और मेहनत लगती है, उसे बचाकर उपयुक्त दिशा में प्रयुक्त किया जा सकता है।

शिक्षा और साहित्य के बाद लोकमानस को प्रभावित करने वाला माध्यम 'कला' है। संगीत, गायन, अभिनय, नृत्य, नाटक, प्रहसन आदि केवल मनोरंजन ही नहीं करते, वरन् उनके माध्यम से कोमल भावनाओं को स्पर्श करने और उभारने का काम भी बड़ी खूबी के साथ होता है। सिनेमा और टी० वी० का क्षेत्र इन दिनों बहुत व्यापक हो गया है। अब लोकरंजन की प्रक्रिया सिनेमा और दूरदर्शन के इर्द-गिर्द जमा होती चली जा रही है। लाखों लोग उसे रुचिपूर्वक देखते हैं। प्रगतिशील देशों ने सिनेमा और टी० वी० की रचनात्मक प्रवृत्तियों को विकसित करने के लिये दिशा दी। वहाँ की सरकारों ने उस तरह के नियंत्रण लगाये और निर्देश दिये कि फिल्म और टी० वी० सिरियल जनमानस को ऊँचा उठाने वाले बनें। देशभक्त कलाकारों ने अपने नैतिक और सामाजिक उत्तरदायित्वों को समझा और निबाहा। फलस्वरूप वहाँ का सिनेमा और टेलीविजन वरदान सिद्ध हुआ। लोकरंजन के साथ लोकमंगल जुड़ा रहने से उसका परिणाम शुभ ही हुआ। लोगों को विनोद भी मिला और विकास के लिये प्रकाश भी।

अपने यहाँ इस क्षेत्र में भी अंधकार ही है। फिल्म और टेलीविजन उद्योग को भी कामुकता भड़काने की एक सस्ती दिशा मिल गई है। लोगों की पशुता को भड़काकर आसानी से धन और ख्याति मिल सकती है, इस मान्यता ने कलाकार को सृजन का देवता बनने से रोक दिया और वह किसी भी उचित-अनुचित तरीके से लाभ कमाने के लिये मुड़ गया। इसे राष्ट्र का दुर्भाग्य ही कहना चाहिये। इससे भी अधिक कष्टकारक है सरकार की उदासीनता। जब अन्य अपराधों को रोकने के लिये कानून बन सकते हैं और अपराधियों को दंड देने के विधान बन सकते हैं तो कला के माध्यम से लोकमानस को विकृत करने वाले कुरुचिपूर्ण दुष्प्रयत्नों को क्यों न रोका जाना चाहिए ? सरकार चाहे तो इस स्तर के प्रयत्नों को रोकने के लिये सामान उपलब्ध न होने देने से लेकर सेंसर की कठोरता तक ऐसे अनेक उपाय कर सकती है, जिनसे लोकमानस को विकृत करने वाली प्रवृतियाँ रुक सकें।

सभी शक्ति साधनों की तरह कला का भी अपना ऊँचा स्थान है। शस्त्र रखने के लाइसेंस केवल संभ्रांत नागरिकों को मिलते हैं, इसी प्रकार कला का प्रयोग करने की सुविधा भी केवल सही व्यक्तियों को सही प्रयोजन के लिए मिलने दी जाय। मनोरंजन के समस्त साधनों पर बारीकी से नजर रखी जाय कि वे विकृतियाँ उत्पन्न करने वाले विष बीज तो नहीं बो रहे हैं। नाटक, अभिनय, सरकस, नृत्य, संगीत एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों को खुली छूट नहीं मिलनी चाहिए। उनका शालीनता के लिये ही प्रयोग हो सके, ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करनी चाहिए और सरकार को इसके लिये विशेष रूप से विवश करना चाहिए, चित्र प्रकाशन भी उन्हीं कला उद्योगों के अंतर्गत आता है। अर्धनग्न, वेश्याओं जैसी कुरुचिपूर्ण भाव-भंगिमा भरी तस्वीरों की जो बाढ़ आ रही है, उसके साथ जुड़े हुए दुष्प्रभावों को समझा जाना चाहिए और उसके रोकने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। लाउडस्पीकरों के माध्यम से बजने वाले गंदे रिकार्ड कोमल मस्तिष्क के बालकों को दिन भर अवांछनीय प्रेरणा देते रहते हैं। रेडियो पर भी ऐसे ही अनुपयुक्त गीत अक्सर आते रहते हैं। सरकार चाहे तो इस

प्रकार के कुरुचिपूर्ण प्रचार को एक इशारे में बदल सकती है। उसे इस बात का औचित्य समझना ही चाहिए।

इन दिनों राष्ट्रीयकरण की चर्चा जोरों पर है। बैंक, बीमा, भूमि, परिवहन आदि कई बातों का राष्ट्रीयकरण हो चुका है और कई के होने की तैयारी है। इस संदर्भ में सबसे अधिक आवश्यक राष्ट्रीयकरण उन साधनों को करने की जरूरत है, जो लोकमानस को प्रभावित करते हैं। साहित्य, सिनेमा, चित्र आदि के अधिकार उन लोगों के हाथ से छीन लिये जाने चाहिए, जो उनको भ्रष्ट करने में लगे हुए हैं। इन शक्तियों को केवल उन व्यक्तियों के नियंत्रण में दिया जाये, जो उन्हें केवल लोकमंगल के लिये ही प्रयुक्त करने लिए प्रतिज्ञाबद्ध हों। प्रस्तावों द्वारा, प्रदर्शनों द्वारा, हस्ताक्षर आंदोलनों द्वारा, पत्र-पत्रिकाओं द्वारा, सरकार को यह बताया जाना चाहिए कि जनता लोकमानस को विकृत किये जाने वाले प्रयत्नों से क्षुब्ध हैं। चुनावों के समय पर उम्मीदवार से प्रतिज्ञा करानी चाहिए कि, वह चुन जाने पर इस बौद्धिक भ्रष्टाचार को रोकने के लिये शक्ति भर प्रयत्न करेगा।

अपराधों को रोकने के लिये अभी और कड़े कानूनों की जरूरत है। हम देखते हैं कि ८० प्रतिशत अपराधी कानूनी पकड़ से बच निकलने में सफल हो जाते हैं। पुलिस, अदालत, कानून और दंड की सारी प्रक्रिया ऐसी हो, जो अपराधी को कानूनी पकड़ से न बचने दें और उसे ऐसा पाठ पढ़ाये, जो भविष्य में वैसा करने का साहस ही न कर सके। दूसरे लोग भी वैसा न करने के लिये आतंकित हों, हमारी न्याय व्यवस्था ऐसी कठोर होनी चाहिये। इस दिशा में मुलायमी बरतने, ढील छोड़ने या गुंजायश रखने से अपराधी तत्त्वों के हौसले बढ़ते चले जायेंगे और सदाचरण की उपेक्षा बढ़ जायेगी। सरकार चाहे तो दुष्प्रवृत्तियों के प्रति अधिक कठोर रुख अपनाकर अपराधों का विस्तार रोक सकती है। सज्जनता को सम्मानित और पुरस्कृत करके भी सत्प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दिया जा सकता है। राजसत्ता जितने अंशों में लोकमानस को स्पर्श और प्रभावित करती हो, उतने ही अंशों में उसे सुधारात्मक रुख अपनाने के लिए अधिकाधिक प्रेरित, प्रभावित और विवश किया जाना चाहिए।

अनौचित्य के विरुद्ध समर्थ नैतिक क्रांति की आवश्यकता

यह संसार पाँच तत्त्वों का बनाया हुआ है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश के समिश्रण से यह विविधविध सृष्टि निर्मित हुई। चेतन जगत् को प्रतिध्वनित करने वाली पाँच तन्मात्राएँ हैं—गंध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द—क्रमशः इन्हीं पाँचों का प्रतिनिधित्व ज्ञानेंद्रियाँ करती हैं। नासिका, जिह्वा, नेत्र, त्वचा, कान इन पाँचों की अनुभूतियों के आधार पर शरीर और मन का ढाँचा खड़ा हुआ है। पूजनीय देवताओं में पाँच प्रधान माने गये हैं—ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गौरी और गणेश। यह पृथ्वी पाँच महाद्वीपों में बँटी हुई और समुद्रों का विभाजन भी पाँच भागों में हुआ है। यहाँ पाँच की संख्या में जुड़े हुए अनेक माध्यमों को इतना उत्कृष्ट कहा जा सकता है कि उनके लिये सृष्टि का प्राण संबोधन करना अनुचित न होगा। पंच परमेश्वर कहने का अर्थ यह है, जहाँ पाँच श्रेष्ठ व्यक्ति उपस्थित हों, वहाँ परमेश्वर ही उपस्थित जाना जाय।

व्यक्ति और समाज को सुव्यवस्थित और समुन्नत स्थिति में बनाये रखने के लिए पाँच शक्तियाँ ही प्रमुख हैं—(१) शासन, (२) धर्म, (३) विद्या, (४) कला, (५) धन। इन्हीं के आधार पर कोई देश या समाज ऊँचा उठता है और समर्थ बनता है। व्यक्ति का स्तर उठाने में भी इन पाँचों की ही गरिमा सन्निहित है। इनका सदुपयोग जहाँ कहीं भी होगा, वहाँ सुख-शांति का वातावरण उत्पन्न होगा और जहाँ कहीं उनका दुरुपयोग हो रहा होगा, वहाँ पतन और विनाश की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो रही होंगी।

स्वर्ग के देवता जो भी हों, सूक्ष्म जगत् में जिनका भी प्राधान्य हो, प्रत्यक्ष जगत् में पाँच देवता ही प्रत्यक्ष हैं और उनकी कृपा एवं तत्परता का परिणाम ही आनंद और उल्लास के रूप में संपति और प्रगति के रूप में दीख पड़ता है और उनका प्रकोप एवं रोष दशों दिशाओं में कुहराम उत्पन्न कर देता है और सर्वत्र नरक की सर्वभक्षी दावानल धधकने लगती है। इन पाँच देवताओं के नाम

हैं—(१) राजनेता, (२) धर्माचार्य, (३) बुद्धिजीवी, (४) कलाकार, (५) धनवान्। चूँकि पाँचों शक्तियों के अधिपति यही लोग हैं। इसलिये इन पाँचों वर्गों को प्रत्यक्षरूपेण व्यक्ति और समाज का कर्ता, भर्ता, हर्ता कहा जाए तो कुछ अत्युक्ति न होगी। यह जिस दिशा में चलते हैं, सब उसी दिशा में चलने लगते हैं। पवन के प्रवाह के साथ पत्ते और रेत के कण उड़ते चले जाते हैं। जल का प्रवाह जिधर बहता है उसी दिशा में लहरों की गति होती है। इन पाँचों सत्ताधारियों की दिशा जिधर भी चल रही होगी, साधारण जनता का, समाज के क्रियाकलाप का चिंतन और कर्तृत्व उसी दिशा में चलता, बढ़ता देखा जायेगा।

देवताओं को सम्मान मिलता है, क्योंकि उनके अनुग्रह पर सुख-शांति का आधार अवस्थित है। शक्ति की, शक्तिवान् की पूजा का होना स्वाभाविक भी है। वैभव और विनाश-शक्ति से संभव होता है, इसलिये जहाँ कहीं शक्ति-स्रोत होगा, वहाँ जन साधारण को मस्तक झुकाना ही पड़ेगा। आज भी इन पाँच देवताओं को हर जगह सम्मान मिलते, पूजा-उपकरणों से अलंकृत देखते हैं। धन और यश इन पाँच वर्ग के लोगों को ही मिलता है। विभिन्न क्षेत्रों का नेतृत्व वे ही करते हैं। जनता उनका वर्चस्व भी स्वीकार करती है। अपने समय निर्माता वस्तुतः—यह पाँच ही हैं। परिस्थितियों का श्रेय इन्हें दिया जाना चाहिए, क्योंकि निर्माण की सर्वतोमुखी जिम्मेदारी इन्हीं की है। जब-जब इन पाँच वर्गों ने अपना स्तर ऊँचा रखा है और क्रियाकलापों में अपने महान् गौरव एवं उत्तरदायित्व को ठीक तरह संभाला है, वहाँ स्वर्गीय वातावरण ही पैदा हुआ है।

साथ ही एक और बात भी जुड़ी हुई है कि यदि इन सत्ताधीशों ने अपनी क्षमता का दुरुपयोग किया, दुष्टता और दुर्बुद्धि का परिचय दिया, तो उसका दुष्परिणाम सारे समाज को भुगतना पड़ता है। शासन के सूत्र संचालक यदि व्यक्तिगत स्वार्थ साधन पर उतर आयें, सत्ता को अपने हाथ से न जाने देने के लिये हर बुरा-भला कदम उठाने को तत्पर हो जायें, पक्षपात बरतें और अनीति का समर्थन करें, तो समझना चाहिए कि सारा शासनतंत्र ही भ्रष्ट हो जायेगा और सत्तातंत्र

के भ्रष्ट होने पर उनके प्रभाव और दबाव में रहने वाली जनता को भी भ्रष्टता की कीचड़ में धँसना पड़ेगा। राजनेता, जिन राज कर्मचारियों के माध्यम से स्वार्थ-साधन करते हैं, वे उस दुर्बलता को समझ जाते हैं। उनका जितना काम निकालते हैं, अपना उससे सौगुना अधिक काम बनाते हैं और जिन तरीकों से यह स्वार्थ-साधन की प्रक्रिया चलती है, उससे अधिकारी का जितना स्वार्थ सिद्ध होता है—उससे सौगुनी क्षति जनता की होती है।

मान लीजिए, एक मिनिस्टर हजार रुपये प्राप्त करना चाहता है। वह अपने संपर्क में रहने वाले इंजीनियर से लेगा। इंजीनियर ठेकेदार से एक लाख वसूल करेगा और ठेकेदार इस लाभ को देने के लिये जितना खराब और घटिया काम करेंगे, उससे जनता को एक करोड़ की क्षति उठानी पड़ेगी। घड़ी में चाबी एक मिनट में लग जाती है, पर उसका कसाव चौबीस घंटे उस मशीन को चलाता रहता है। शासन के सूत्र संचालक नेताओं की दिशा जिधर भी उठती है, आँधी के साथ उड़ने वाले पत्तों की तरह परिस्थितियों का प्रभाव उधर ही दौड़ने लगता है।

राजतंत्र भौतिक जगत् पर शासन करता है और धर्म भावना के अंतरंग जगत् पर। धर्माचार्य जनता की आस्था, श्रद्धा, भावना, आकांक्षा, मान्यता एवं दिशा का निर्माण करते हैं। वे सही हों तो बुद्ध, गोविंद, विवेकानंद, गांधी की तरह कोटि-कोटि मानवों की चिंतन प्रक्रिया को उत्कृष्टता की दिशा में भेज सकते हैं, पर यदि वे भ्रष्ट हों तो वह अनाचार उत्पन्न करते हैं, जो धर्म के क्षेत्र में फैले हुए अंधेर के रूप में हमारे सामने हैं। पाखंड, प्रवंचना, प्रमाद, भ्रांति, संकीर्णता, परावलंबन, अकर्मण्यता एवं मिथ्या काल्पनिकता के जंजाल में जनमानस को, जनता को किस बुरी तरह उलझाया जा सकता है, यह सम्मुख है। यदि धर्माचार्यों का स्तर ऊँचा रहे और वे लोकमंगल के अनुरूप कार्य पद्धति अपना लें तो आज भी ऋषियों का यह देश पूर्वकाल की तरह महामानवों ही का भांडागार दीख पड़े।

तीसरा वर्ग शिक्षकों का है। इसमें केवल अध्यापक ही नहीं आते, वे लोग भी आते हैं, जो लोगों के सम्मुख सोचने की सामग्री

प्रस्तुत करते हैं। इन्हें बुद्धिजीवी कहा जाना चाहिए। ज्ञान का विस्तार जिन लोगों के द्वारा होता है, जनसाधारण की समझ को जो प्रभावित करते हैं, वे सभी लोग शिक्षक वर्ग में आते हैं। इतिहास, भाषा, भूगोल पढ़ा देना तो पढ़ाने वालों का काम है, यह अध्यापक वर्ग भी छात्रों के संपर्क में रहने के कारण, उनके चिंतन को परिष्कृत बना सकता है और शिक्षक की भूमिका भी संपादित कर सकता है। इसके अतिरिक्त साहित्यकार इस वर्ग में आते हैं। पत्रकार, संपादक, लेखक आदि इसी श्रेणी में आते हैं। उनकी रचनाएँ स्वांतः सुखाय लिखी भले ही गई हों, पर जब वे प्रकाशित होती हैं तो लोकमानस को प्रभावित करती हैं। किसी समाज के साहित्य को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस समाज में सर्वसाधारण की मानसिक स्थिति किस स्तर की रही होगी ? व्याख्यानदाता, समाजसेवी, आंदोलनकारी, रचनात्मक कार्यों में संलग्न संस्था संचालक एवं अन्य प्रकार के लोकसेवी वर्ग को भी बुद्धिजीवियों की ही श्रेणी में गिना जाना चाहिये। बुद्धिजीवी का अर्थ बुद्धि के द्वारा आजीविका कमाने वाले नहीं हो सकते—इस परिभाषा के अनुसार तो दलाल, वकील, बाजीगर, क्लर्क, मुंशी से लेकर ठगी तक का धंधा करने वालों तक सभी लोग बुद्धिजीवी कहलायेंगे। बुद्धि को जीवंत प्रेरणा देने वालों को बुद्धिजीवी कहा जाना चाहिए। इस वर्ग में ही वे सब लोग सम्मिलित किये जा सकते हैं, जो किसी न किसी प्रकार जनसाधारण की भावना, विचारशीलता, चिंतन-प्रक्रिया एवं मनोदशा को प्रभावित करते हैं। पढ़ने-सुनने और देखने की प्रभावपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करके यही वर्ग जनसाधारण के मस्तिष्क को गति देता है और उसी से प्रेरणा लेकर लोग अपनी कार्य पद्धति निर्धारित करते हैं। आज की पथभ्रष्टता एवं विकृतियों के लिये यह बुद्धिजीवी वर्ग भी जिम्मेदार है। यदि उनकी रचनाओं, अभिव्यंजनाओं, उपदेशों, प्रतिपादनों में जनमानस का स्तर ऊँचा उठाने वाली प्रखरता भरी रहती, उनके चरित्र और आदर्श ऊँचे होते तो कोई कारण नहीं जनता नीचे स्तर का चिंतन करे और निकृष्ट कर्तृत्व को निर्लज्ज होकर अपनाये।

चौथा वर्ग कलाकारों का आता है। संगीत, गायन, वाद्य, अभिनय और चित्रकला, मूर्तिकला आदि इसी श्रेणी के क्रियाकलाप हैं। इन सबका समन्वय सिनेमा और टेलीविजन में हो गया है। इन दिनों लोकरंजन के पुराने माध्यम प्रायः समाप्त हो गये। कठपुतली, रीछ, वानर, नट, बाजीगर, सर्कस, नाटक, अभिनय आदि के मनोरंजन यदा-कदा ही दीख पड़ते हैं और उनका भी स्तर तथा विस्तार दिन-दिन घटता जा रहा है। इन दिनों एक प्रकार से राष्ट्रीय सर्वमान्यता संपन्न मनोरंजन एक ही रह गया है—सिनेमा और दूरदर्शन ! कलाकारों को आश्रय अब इसी वृक्ष के नीचे मिलता है। जनता की कला और विनोद की रुचि भी यहीं पूरी होती है। चित्रकला, मूर्तिकला आदि का तो अस्तित्व मात्र ही बाकी है। मूर्तियों में देवी-देवता और चित्रों में अर्धनग्न वेश्या जैसी भाव-भंगिमा वाली कामिनी और रमणी की फूहड़ तस्वीरें ही जहाँ-तहाँ छपती-बिकती देखी जाती हैं। नर और नारी की शालीनता और गरिमा को प्रस्तुत करने वाले चित्र तो समुद्र में बूँद जैसे जहाँ-तहाँ दीख पड़ते हैं।

आज कला का केंद्र बिंदु सिनेमा और टी० वी० ही रह गया है। लोकरंजन के साथ लोकशिक्षण को मिलाकर बहुत ही महत्त्वपूर्ण ढंग से जनमानस का निर्धारण किया जा सकता है। इस दिशा में सिनेमा और दूरदर्शन बहुत काम कर सकता था। प्रगतिशील देशों में उसने भारी काम किया भी है। जर्मनी ने अपने देशवासियों को किसी समय फासिस्ट बनाने में सिनेमा से बड़ी सहायता ली थी। रूस, चीन आदि साम्यवादी देशों ने सिनेमा और टेलीविजन से प्रजा के मस्तिष्क को अपने आदर्शों के अनुकूल ढालने में एक महत्त्वपूर्ण साधन के रूप में प्रयुक्त किया है। अपने देश में जो शिक्षण टेलीविजन और सिनेमा से मिल रहा है, उसे हम दुःख और निराशा की दृष्टि से ही देख सकते हैं। कलाकार भावनाओं को स्पर्श करता है। गायन, वाद्य, अभिनय की अपनी सामर्थ्य है। चित्र (सिनेमा-टी० वी०) जनमानस का स्पर्श करते हैं। कला की सामर्थ्य का यदि सदुपयोग किया जा सकता तो जन साधारण में निकृष्ट चिंतन और घृणित कर्तृत्व के दृश्य कहीं देखने को न मिलते। संसार में उत्कृष्ट जीवन की हरियाली ही लहरा रही होती।

पाँचवी शक्ति धन की है। धनी लोग अपने वैभव, ठाट-बाट और ऐश-आराम का जो स्वरूप बनाते हैं, उनसे जन साधारण की लालसा भड़कती है और हर व्यक्ति वैसे ही उपयोग के लिये लालायित होता है। सीधा रास्ता धनी बनने का कठिन है। जल्दी का रास्ता अनीति और बेईमानी का ही दीख पड़ता है, सो धन से उपलब्ध ठाट-बाट प्राप्त करने के लिये सर्वसाधारण का जी ललचाता है, वह अपराधों का रास्ता अपनाकर धनी बनने के लिये अग्रसर होता है। धन उपार्जन बुरा नहीं, संपत्ति बढ़ने से देश की समृद्धि बढ़ती है और लोगों को काम मिलता है, पर उसका उच्छृंखल उपयोग बुरा है। घर का कमाऊ व्यक्ति उपार्जन तो बहुत करता है, पर उसका लाभ सब लोग समान उठाते हैं और उपयोग मिल-जुलकर समान रूप से करते हैं। कमाऊ व्यक्ति अधिक उपयोग करने लगे तो उसे पारिवारिक भावना के विरुद्ध एवं अनैतिक माना जायेगा। अधिक उपार्जन करने वालों को भी अपना जीवन-यापन का स्तर तथा खर्च उतना ही रखना चाहिए, जैसा कि अपने देशवासियों का जन स्तर है। अधिक उपार्जन को सहयोगी श्रमिकों में तथा लोककल्याण के कार्यों में दान स्वरूप वापस कर देना चाहिए। धन का यही उपयोग न्यायोचित है।

बेटे-पोतों के लिये दौलत जमा करने और स्वयं उच्छृंखल विलासिता का ठाट बनाने का परिणाम सब प्रकार बुरा ही बुरा होता है। ईर्ष्या भड़कती है, लोग उस संग्रहीत धन के लिये ललचाते हैं। अपने में विलासिता, व्यसन, भय आदि की दुष्प्रवृत्तियाँ बढ़ती हैं। लोभ बढ़ते जाने से अनीति-उपार्जन में उत्साह बढ़ता है, पास में होते हुए भी दूसरों की सहायता से हाथ सिकोड़ना पड़ता है, उदार हृदय वाले के लिये तो संपत्ति-संग्रह को सुरक्षित रखने के लिये समाज की आवश्यकताओं की ओर से निष्ठुरता धारण करनी पड़ती है, बेटे-पोतों को हराम की कमाई मिलने से वे आलसी, व्यसनी और अपव्ययी बन जाते हैं, जो परिश्रमपूर्वक कमाया नहीं गया है उसे फिजूलखर्ची में उड़ाते हुए भी बेटे-पोतों को दर्द नहीं आता, वे आपस में धन के वितरण पर लड़ते-मरते भी देखे गये हैं।

गिनाये जायें तो ऐसे-ऐसे हजारों दुष्परिणाम धन के संग्रह करने एवं ठाट-बाट बनाने से होते हैं। एक के अमीर बनने में सौ को गरीब रहने की प्रत्यक्ष या परोक्ष विवशता उत्पन्न होती है। एक दीवार तभी ऊँची उठेगी, जब उतनी ईंट-मिट्टी उपलब्ध करने के लिये कहीं गड्ढा बनाना पड़ेगा। अनेकों को निर्धन रखने की विवशता उत्पन्न करके ही एक की अमीरी रूपी दीवार खड़ी होती है।

जिन्हें धन की शक्ति प्राप्त हो गई है उनके लिये उसके सदुपयोग का एक ही मार्ग है, कि समाज के पिछड़ेपन को दूर करने के लिये उसे मुक्त हस्त से देने के लिये तत्पर बने। आज जितना धन लोगों की तिजोरियों में, बैंकों में, जमीन-जायदादों और ठाट-बाटों में रुका पड़ा है, यदि वह उस अनुदार निष्ठुरता को, लालच और लिप्सा के चंगुल में से निकालकर—लोकमंगल की सत्प्रवृत्तियाँ उत्पन्न करने एवं बढ़ाने में लगाया जा सके, तो इतने रचनात्मक कार्यों का उद्भव हो सकता है, जिससे जनसाधारण का आर्थिक और नैतिक अभाव पूरा कर सकना कुछ भी कठिन न रहे। इन दिनों घायल मानवता को बल देने वाले ऐसे अनेकों बौद्धिक प्रेरणा प्रदान करने वाले निर्माणों की जरूरत है, जो पतन को उत्थान में परिणत कर सकें। प्रेरणाप्रद साहित्य, प्रेरणाप्रद फिल्में और टी० वी० सिरियल, भावपूर्ण ग्रामोफोन रिकार्ड, गोरस व्यवसाय, जड़ी-बूटियों का उत्पादन, फल-पुष्पों की पौध और बीज बेचने वाली नर्सरी, गृह उद्योगों की उपकरण आदि अनेकों वस्तुएँ ऐसी हैं, जिनकी आज देश को भारी आवश्यकता है और उनके बिना हर्ज भी बहुत हो रहा है, पर चूँकि कम लाभ के व्यवसाय में धनियों की रुचि नहीं, इसलिये वे सभी उपयोगी कार्य एक प्रकार से रुके ही पड़े हैं। यदि धनपतियों में उदारता नहीं होती, तो उन्होंने स्वल्प लाभ या बिना लाभ के अपनी पूँजी को सुरक्षित रहने मात्र के संतोष पर ऐसे अनेक कार्यों को संचालित किया होता, जो देश के पिछड़ेपन को दूर करने में सहायक हो सकते थे।

इसी प्रकार विभिन्न क्षेत्रों में पिछड़ेपन को दूर करने के लिए संलग्न होने वाले लोकसेवियों के निर्वाह व्यय के लिये पैसा देकर

कार्यकर्ताओं की एक बड़ी सेना खड़ी की जा सकती थी और जो लोग परिवार का पोषण-व्यवस्था न होने के कारण अपनी प्रतिभा सिकोड़े बैठे हैं, उन्हें आगे बढ़कर जौहर दिखाने का अवसर मिल सकता था। विचार क्रांति, नैतिक क्रांति और सामाजिक क्रांति का रथ साधनों के अभाव की कीचड़ में धँसा अवरुद्ध खड़ा है, इसे अधिक सहायता देकर आगे बढ़ाया जा सकता था।

समुद्र मंथन के समय उपलब्ध अमृत का लाभ उठाने के लिये देवताओं की पंक्ति में कुछ असुर देवताओं का वेष बनाकर सम्मिलित हो गये थे। यह अनर्थ भगवान् ने देखा तो वे सोचने लगे अमृत का लाभ असुरों को मिला तो वे उस उपलब्ध अमरता का दुरुपयोग करेंगे और संसार में कुहराम मचा देंगे, इसलिये उन्हें हटा देना ही उचित समझा और चक्र सुदर्शन से उन देव वेष में छिपे बैठे असुरों का सिर काटकर फेंक दिया। पौराणिक गाथा—"आज की विभिन्न परिस्थितियों में क्या किया जाना चाहिए ?" इसका ठीक सा पथ प्रदर्शन करती हैं। शक्तियों का पंचामृत देवताओं के पास रहना चाहिए, क्योंकि वे ही उसका सदुपयोग कर सकते हैं। असुरों का काम दुरुपयोग करना ही है। उनके पास अमृत जैसी वस्तु पहुँच जाय तो भी वे उसका लाभ न स्वयं उठा सकेंगे और न किसी को चैन से रहने देंगे। उनके पास जाकर श्रेष्ठ वस्तु भी कलंकित हुए बिना न रहेगी, अस्तु उचित यही है कि यदि उनके पास नहीं गई है, तो जाने न दी जाए और चली गई है, तो छीन ली जाए। राहु-केतु को इसीलिये अमृतत्त्व से वंचित किया गया था। यदि वह देव होता, तो भगवान् प्रसन्नतापूर्वक उसे वह लाभ उठाने ही न देते, वरन् उसकी सहायता करते। कुपात्रों को तो वंचित किया जाना ही उचित है। सो उस छद्म वेषधारी असुर का सिर इसी आधार पर काटा गया था। आज भी उसी प्रक्रिया की पुनरावृत्ति आवश्यक है। शक्तियाँ देवत्व हैं। वे तो हमारे जीवन-मरण की सहचरी हैं। शक्ति के बिना प्रगति नहीं, शांति नहीं, स्थिरता नहीं; सो शक्तियों की निंदा नहीं की जा सकती, न उपेक्षा की जा सकती है और न दुरुपयोग सहन किया जा सकता है।

आज असुरता के साम्राज्य ने संसार की प्राणदेव शक्ति को भी अपने लोहपाश में कस लिया है। राहु द्वारा सूर्य-चंद्र को ग्रस लेने पर अंधकार छा जाता है और घुटन पैदा हो जाती है। इन दिनों में देवत्व का दम घुट रहा है और अशक्त बना जन समाज त्राहि-त्राहि कर रहा है। इस स्थिति का अंत होना ही चाहिए।

शासन सत्ता उनके हाथ रहनी चाहिए, जो उसका उपयोग विशुद्ध रूप से प्रजापालन के लिए कर सके। अश्वघोष, जनक आदि की तरह जो निःस्पृह रह सके, नासिरुद्दीन की तरह जो टोपियाँ सींकर अपना पेट पाले और शासन का कार्य परमार्थी लोक सेवक की तरह साधन-तपश्चर्या की तरह संपन्न करें। हमें चाणक्य जैसे शासन सूत्र संचालक चाहिए, जो पैदल चलकर फूँस की कुटिया में निवास करने जाया करे और शासन व्यवस्था चलाने का कार्य किसी अनुष्ठान की तरह संपन्न किया करे। धर्माचार्यों के पद पर वशिष्ठ, व्यास, भारद्वाज, याज्ञवल्क्य, शुकदेव, कपिल, कणाद, जैमिनी जैसे परखे हुए लोग ही आसीन होने चाहिए। बुद्धिजीवी वर्ग को शंकराचार्य, बादरायण, चरक, पाणिनि, सूर, तुलसी, कबीर जैसों का अनुकरण करना चाहिए। कलाकार, नारद और मीरा से प्रकाश ग्रहण कर सकते हैं। धनवानों को वाजिश्रवा, हरिश्चंद्र, भामाशाह जैसे आदर्श प्रस्तुत करने के लिए आगे आना चाहिए।

समय आ गया है कि देव और असुरों को अलग-अलग पंक्तियों में खड़ा किया जाय। शक्तियों को प्राप्त कर जो उनका सदुपयोग करते रहें, उन देवताओं को जनता का भी पूरा सम्मान मिलना चाहिए और उनकी महानता को पग-पग पर सराहा जाना चाहिए। साथ ही जिन्होंने इन्हें पाकर दुरुपयोग किया है, उन्हें उनकी संकीर्ण स्वार्थपरता के लिये लज्जित किया जाना चाहिए।

भ्रष्टता इसलिए फैलती रही है कि देव शक्तियों का दुरुपयोग करने वाले भी सम्मानास्पद माने जाते रहे और उन्हें सहयोग-समर्थन मिलता रहा। साधुता इसलिये मरती गयी कि उसे उपहास मिला और उपेक्षित माना गया। किसी ने उसे सराहा नहीं और न सहयोग दिया। अब जब कि नया निर्माण करना ही है, तो

उन पुराने मूल्यांकनों को बदलना पड़ेगा, जो इस दुरुपयोग को प्रोत्साहित करने का उत्तरदायी है। अनाचार को पदच्युत करने और सदाचार को पदासीन करने के लिये चाहे कोई प्रत्यक्ष शस्त्र-साधन भले ही अपने पास न हों, पर एक बड़ा अप्रत्यक्ष शस्त्र जनता के पास अभी भी है कि वह भले और बुरे का अंतर करना सीखे, देव और दानव को अलग-अलग पंक्तियों में खड़ा करे। देवताओं की हम प्रत्यक्ष सहायता न कर सकें तो भी उन्हें श्रद्धा, प्रशंसा, सम्मान, सहयोग, समर्थन तो प्रदान कर ही सकते हैं, असुरों का दमन करना यदि अपने हाथ में न हो तो कम से कम उन्हें निरुत्साहित-लज्जित तो किया ही जा सकता है। सहयोग, समर्थन और सम्मान से उन्हें वंचित किया ही जा सकता है। जनता जब भले और बुरे का, उदार और निष्ठुर का, स्वार्थी और सज्जन का अंतर करने लगेगी और तदनुसार ही उसका मूल्यांकन करेगी तो उस अंधेर में तिरोहित होने में देर न लगेगी, जिसकी आड़ में निशिचर फलफूल रहे हैं और देवी को निराश्रित होकर ठोकर खाते हुए भटकना पड़ रहा है।

लोकमत की शक्ति अपार है। लोकमानस जब तक मूर्च्छित पड़ा है, तब तक मृतक है, उसे कोई भी पददलित करता रह सकता है। पर जब वह सजग होकर उठ खड़ा होता है, तो फिर उसका सामना कर सकने में संसार की कोई सत्ता समर्थ नहीं हो सकती। शस्त्रों से व्यक्ति मरते हैं, पर लोकमत की जिस पर बात पड़ती है, वह विडंबना कितनी बड़ी क्यों न हो, देखते-देखते जल कर नष्ट हो जाती है। लोकमत का सींचा हुआ सूखा वृक्ष भी हरा और मरा हुआ आधार भी जीवित हो जाता है। इस मर्म को समझते हुए हमें ऐसा प्रचंड लोकमत जाग्रत् करना चाहिए, जिसमें अनाचार को जीवित रह सकना असंभव हो जाय। उन शक्तियों को पाकर जिन्होंने उनका सदुपयोग किया, उनकी प्रशंसा और प्रतिष्ठा के लिए चर्चा और अनुकरण के लिए एक सुव्यवस्थित अभियान चलाया जाना चाहिए। वैसे भारतीय संस्कृति में इन पाँच प्रयोजनों के लिये पाँच त्यौहार भी पहले से निर्धारित हैं—(१) विजया दशमी आश्विन सुदी १० राजपर्व (२) दिवाली—कार्तिक बदी ३०—धनपर्व (३) वसंत पंचमी—माघ सुदी

५—बुद्धिपर्व (४) होली फाल्गुन पूर्णिमा—कलापर्व (५) गायत्री जयंती-गंगा दशहरा—ज्येष्ठ सुदी १०—धर्मपर्व। इन पाँच अवसरों पर ऐसे समारोह किये जा सकते हैं, जिनमें इन शक्तियों से संपन्न व्यक्तियों द्वारा उन्हें लोकमंगल के लिये, परमार्थ प्रयोजनों के लिये किस प्रकार प्रयुक्त किया ? इसके देशी-विदेशी उदाहरणों की चर्चा की जानी चाहिए, उनके चित्रों की प्रदर्शनी, प्रतिष्ठा-कार्यक्रमों के साथ उन प्रसंगों को गायनों, भाषणों, अभिनयों द्वारा जन साधारण के सामने प्रस्तुत किया जाना चाहिए। साथ ही इन शक्तियों का संकीर्ण स्वार्थपरता के लिये दुरुपयोग करके किस प्रकार स्वयं पतित बने और उस लिप्सा ने जनता को कितनी हानि पहुँचाई ? इसकी भी विवेचना की जानी चाहिए। यों यह सदुपयोग-दुरुपयोग की चर्चा प्रत्यक्ष तथा दिवंगत लोगों की हो, पर उनका संकेत आज के लोगों पर भी ढाला जा सकता है। पौराणिक, ऐतिहासिक ही नहीं, सामान्य स्तर के अप्रसिद्ध और गरीब लोगों की प्रतिष्ठा-प्रशंसा को इन पर्वों में स्थान दिया जा सकता है, जिसने स्वल्प शक्ति होने पर भी उदारता और परमार्थ वृत्ति का बढ़कर परिचय दिया हो।-उपरोक्त पर्वों के अतिरिक्त कभी भी सुविधानुसार ऐसे आयोजन किये जा सकते हैं। जहाँ संभव हो वहाँ नाटक, अभिनय, प्रकाश चित्र स्लाइड प्रोजेक्टर, संगीत कला आदि के माध्यम से भी ऐसी व्यवस्था की जा सकती है, जिससे जनता के मन पर उपरोक्त पाँच शक्तियों के सदुपयोग-दुरुपयोग करने वालों के लिये श्रद्धा और घृणा विकसित करने का, दोनों को भले-बुरों की दो अलग-अलग पंक्तियों में खड़ा करने का अवसर मिल सके।

सही मूल्यांकन न कर सकने के भेड़िया धसान ने ही लोक मत की शुद्धता को विकृत कर दिया है। यदि भले-बुरे के बीच स्पष्टता और प्रखरता के साथ अंतर किया जाता रहता, तो अवांछनीय आचरण करने वाले पग-पग पर तिरष्कृत और अपमानित होते; उनसे सीधे मुँह कोई बात न करता, न उनके साथ बैठता, न उन्हें अपने पास बैठने देता; सर्वत्र उन्हें असहयोग, विरोध और घृणा का ही उभार दीखता, तो उस लोकमत के आगे उन्हें अपनी गतिविधियाँ बदलने के लिए विवश होना ही पड़ता; नहीं

बदलते तो कम से कम दूसरे विचारशील लोग उनका अनुकरण करने की तो हिम्मत नहीं करते।

आज तो यह होता है कि उपलब्ध शक्तियों को सार्वजनिक सुविधा के लिये मिली हुई अमानत न समझकर जो उनके द्वारा स्वार्थ-साधने के दुरुपयोग में ही संलग्न हैं, वे समाज में लज्जित किये जाने के स्थान पर उलटा सम्मान पाते हैं। चापलूस और स्वार्थी लोग उनसे कुछ पाने या पाने की आशा होने से उनकी चापलूसी और प्रशंसा करते रहते हैं। किसी सभा-संस्था को थोड़ी-बहुत सहायता करके वे अखबारों में अपना नाम छपा लेते हैं, नाम के पत्थर जड़वा लेते हैं, अभिनंदन और मानपत्र ले लेते हैं और सभापति संरक्षक आदि का पद प्राप्त कर लेते हैं। पैसों से जब सम्मान भी खरीदा जाने लगा तो फिर पैसा ही सब कुछ हो गया। किसी भी तरह कितना ही पैसा कमाया जाय और अनुचित की निंदा होने की संभावना प्रतीत हो तो थोड़े से टुकड़े फेंककर उस निंदा का मुँह बंद कर दिया जाए, इतना ही नहीं, प्रशंसा खरीद ली जाए। आज यही अंधेर चल रहा है। लोकमत की दुर्बलता जब इतनी बढ़ जाय कि उसे भी मौत या भ्रमित कर सकना आसान हो जाय तब किसी समाज का ईश्वर ही रक्षक है।

मनुष्य का मूल्यांकन हमें पुनः विवेकशीलता और न्यायनिष्ठा के आधार पर कर सकने का साहसिक दृष्टिकोण विकसित करना चाहिये और लोकमत को बहकाया-खरीदा न जा सके ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करनी चाहिये। खरीदे हुए चापलूसों द्वारा किसी अवांछनीय व्यक्ति का सम्मानित होना एवं विरोध से बचे रहना संभव न हो सके। ऐसे जागरूक प्रहरियों की एक सेना खड़ी की जानी चाहिये। चीन की तथाकथित बदनाम सांस्कृतिक क्रांति की नकल तो हमें नहीं करनी है, पर कुछ न कुछ नैतिक क्रांति की रूप-रेखा खड़ी जरूर करनी पड़ेगी। यदि कुछ भी न किया जा सका और प्रचलित अंधेरा ज्यों का त्यों चलता रहा, तो नैतिक मार्ग पर चलने वाले और आदर्श अपनाकर त्याग-बलिदान के उदाहरण प्रस्तुत करने वालों का हौसला टूट जायेगा; उन्होंने सांसारिक शान-शौकत खोई और समर्थन सहयोग

सम्मान से भी वंचित रहे। दुहरा घाटा उठाकर सन्मार्गगामियों का साहस टूट रहा है। यदि उस दिशा में कुछ न किया जा सका, तो उनकी हिम्मत और कमजोर होती चली जायेगी, फलतः किसी भी रास्ते शक्तियाँ उपार्जित करना और उनका कैसा ही भला-बुरा उपयोग करना, आज की तरह आगे भी जारी रहेगा। सज्जनों के हाथ निराशा ही रह जायेगी।

सज्जनता और उदारता को सम्मानित करने का आंदोलन हमें पूरी शक्ति से चलाना चाहिए। ऐसी पत्र-पत्रिकाएँ निकालनी चाहिये, जिनमें आदर्श उपस्थित करने वाली घटनाओं का प्रभावोत्पादक वर्णन हो। ऐसे गीत लिखे और गाये जाने चाहिए, जिनमें शक्तियों को लोकमंगल के लिये प्रयुक्त किये जाने की प्रशंसात्मक चर्चा हो। यह भूलना नहीं चाहिए कि आगे प्रशंसा को ही रखा जाए, पर उसके साथ निंदा भी जुड़ी ही रहनी चाहिए। जिन लोगों ने इन पाँच शक्तियों को मात्र स्वार्थों के लिये कैद रखा था, उनने जनता को हानि पहुँचाई; उनकी निंदा के लिये इसी सज्जन की प्रशंसा के नाम पर चलाये गये अभियान के साथ-साथ पूरी तरह समावेश होना चाहिये। सत्कर्मों के समर्थन के लिये ऐसे साहसी लोगों को मानपत्र देने, सार्वजनिक अभिनंदन करने, जनता के प्रेम के प्रतीक कुछ उपहार देने, प्रशंसात्मक कार्य करने वालों के चित्र और विवरण छापकर बाँटने जैसे कार्य समय-समय पर किये जाने चाहिये। लोकसेवियों के नाम पर उनकी स्मृति के वृक्ष लगाये जा सकते हैं, या गली-मुहल्लों, सड़कों, विद्यालयों आदि के नामकरण किये जा सकते हैं। यदि वे व्यक्ति स्वर्गीय हैं तो उनके चित्रों को भी सार्वजनिक स्थानों में स्थापित किया जा सकता है।

लोकमत जाग्रत् करने के लिये अभी इस प्रकार का रचनात्मक आंदोलन ही चलना चाहिये, पर जब आंदोलनों में परिपक्वता आ जाये तो स्वार्थी लोगों को लज्जित करने को अभियान भी चलाया जा सकता है। इसमें कुछ बैर-विरोध होने की संभावना है, जो उसके लिये भी आगे चलकर ऐसी मंडलियाँ स्थापित की जा सकती हैं, जो बैर-विरोध के कारण होने वाली

हानि को सहने के लिए तैयार हों। मारपीट से लेकर उन्हें इल्जामों में फँसाने और मानहानि के मुकदमे चलने तक की स्थिति पैदा हो सकती है; आगे चलकर आंदोलन अनुचित का विरोध करने और अवांछनीयता को नंगा करने की स्थिति में मजबूत होते-होते पहुँच जाए। समयानुसार उस हानि को उठाने की क्षमता भी अपने में पैदा करने की आवश्यकता अनुभव होने लगे, तब असहयोग, बहिष्कार, सत्याग्रह, घेराव जैसे कदम भी बढ़ाये जा सकते हैं और उसके लिये एक स्वयंसेवकों की सेना खड़ी की जा सकती है।

स्मरण रखा जाए—लोकमत की शक्ति कम नहीं है, वह अभी प्रसुप्त, मूर्च्छित और निष्क्रिय पड़ी हुई है और उसमें कुछ बनाने-बिगाड़ने की शक्ति नहीं है। लोकमत को जाग्रत् और समर्थ बना लिया जाय और उसमें परिपक्वता, न्यायनिष्ठा, वास्तविकता एवं दूरदर्शिता के आधार पर मूल्यांकन करने की, उचित का समर्थन, अनुचित का विरोध करने—क्षमता उत्पन्न कर दी जाए, तो निस्संदेह यह एक कारगर हथियार होगा और जो काम कानून द्वारा या दूसरे तरीकों से नहीं हो सका, वह इस उपाय से सरल एवं संभव हो जायगा।

पाँचों देव शक्तियों का उपभोग उनके उपार्जनकर्ता न्यूनतम मात्रा में ही अपने लिये कर सकें। उनका अधिकतम अंश लोकमंगल के लिये प्रयुक्त हो, ऐसा वातावरण बनाया जाना चाहिए। शांति और सुव्यवस्था का यही तरीका है। अन्यथा दुरुपयोग का वर्तमान क्रम जो विद्रोह उत्पन्न करेगा, उसे नकसलवाद से लेकर गुंडावाद तक कुछ भी पनप सकता है और स्वार्थों से बेतरह चिपके हुए लोगों को इतनी हानि उठाने के लिये विवश होना पड़ सकता है, जिससे उनके हाथ रुदन और पश्चात्ताप ही शेष रह जाए वैसी स्थिति न आने देने के लिये हमें लोकमत जाग्रत् करके सत्ता-संपन्नों को सदुपयोग के लिये प्रेरित करना चाहिए। यही जनता के हित में है और इन सत्ता-संपन्नों के हित में भी।

प्रगतिशीलता पर ही राष्ट्र का भविष्य निर्भर है

आज के परिवर्तनशील समय में यदि कोई समाज यह सोचता है कि वह अपनी सीमाओं में जिस प्रकार अच्छे-बुरे ढंग से चाहे रह सकता है, किसी दूसरे को उससे कोई मतलब न होगा, तो वह समाज गलत सोचता है।

आज संसार के सारे समाजों की निर्धारित सीमायें समाप्त हो चुकी हैं। एक समाज दूसरे समाज की स्थिति में दिलचस्पी लेने लगा है। इसलिये नहीं, कि कोई किसी की तरक्की चाहता है; बल्कि इसलिये कि कोई एक समाज किसी दूसरे समाज की कमजोरियों से आर्थिक, सांस्कृतिक अथवा राजनीतिक लाभ उठाना चाहता है।

ऐसी दशा में जो समाज अंदर से जर्जर होगा, कमजोर होगा, उसे दूसरे समाज अपने प्रभाव में रखने का प्रयत्न करेंगे। इसीलिये संसार के सारे समाज अपनी बहबूदी के लिये अपनी आंतरिक कमजोरियों को तेजी से दूर करते जा रहे हैं। इधर एक शती के अंदर ही अनेक पिछड़े हुये समाजों ने अपना सुधार किया और दूसरे प्रगतिशील समाजों से टक्कर लेने के लिए अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में खड़े हो गये है। अरब, अफ्रीका एवं एशिया के अनेक राष्ट्र इस श्रेणी में आते हैं।

किंतु खेद का विषय है कि, जहाँ आदि काल से पिछड़े और गिरे हुए छोटे-छोटे समाज एवं राष्ट्र तेजी से उठकर खड़े हो रहे हैं वहाँ एशिया का विशाल राष्ट्र भारत, जोकि एक दिन उन्नति के उच्च शिखर पर विराजमान् रहा है, जहाँ का तहाँ पड़ा हुआ अपंगों की तरह घिसट रहा है। संसार की चेतना और समय की आवश्यकता की ओर इसका ध्यान नहीं जा रहा है। यदि यह भारतीय राष्ट्र और कुछ दिन अपने पिछड़ेपन को अपनाये हुए प्रगतिशीलता से विमुख बना रहा, तो इसकी बहुत बड़ी शंका है कि

जिस आजादी को उसने एक लंबा बलिदान देकर उपलब्ध किया है, वह खतरे में पड़ जाये।

किसी राष्ट्र के पराधीन बनने में किसी दूसरे की प्रबलता उतना बड़ा कारण नहीं होती, जितना कि उस राष्ट्र की अपनी आंतरिक कमजोरियाँ ! विस्तारवादी अथवा साम्राज्यवादी जातियाँ संसार के सारे समाजों एवं राष्ट्रों की आंतरिक गतिविधियों को बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से लक्ष्य किये रहती हैं और ज्यों ही अवसर पाती हैं, उस पर हावी होने का प्रयत्न किया करती हैं।

जो-जो नवोदित अथवा नवजात स्वतंत्रता वाले राष्ट्र अपनी सामाजिक कमजोरियों को दूर करते हुए समय की आवश्यकता के अनुसार अपने को बदलते जा रहे हैं, उनकी स्वतंत्रता को खतरा कम होता जा रहा है। इसके विपरीत जो समाज स्वाधीन होने के बाद अपनी उन कमजोरियों को दूर नहीं कर रहे हैं, उनकी स्वाधीनता को हर समय खतरा बना हुआ है।

लगभग अठारह-बीस साल से अपना राष्ट्र स्वाधीन है। किंतु इन अठारह-बीस वर्षों में हम कितनी प्राप्ति कर सके हैं, यदि इसका लेखा-जोखा लिया जाये तो परिणाम का आँकड़ा संतोषप्रद एवं आशाजनक न होगा।

विस्तारवादियों अथवा साम्राज्यवादियों से यह बात छिपी हुई नहीं है कि अपनी स्वाधीनता के बाद से भारतीय समाज प्रगति करना तो दूर अपनी वह चेतना भी खो चुका है, जो उसमें स्वाधीनता संग्राम के समय देखने में आई थी। देश से निकाले गये विदेशी अथवा अन्य लोलुप उपनिवेशी अब भी भारत पर आँख्र गड़ाये बैठे हैं। उन्हें भारतीय समाज की अप्रगतिशीलता से अब भी बहुत कुछ आशा बँधी हुई है कि एक दिन वे फिर इतिहास की पुनरावृत्ति अपने पक्ष में कर लेंगे। इस प्रमाण में भारत के प्रति किये जाने वाले नित्य नये अनेक षड्यंत्रों को गिनाया जा सकता है।

किसी देश की वास्तविक शक्ति उसका सुदृढ़, शक्तिशाली तथा प्रगतिशील समाज ही होता है। सरकार को, राष्ट्र की

वास्तविक शक्ति समझना भारी भूल है। सरकार भी तो वैसी ही बनेगी, जैसे समाजों का स्तर ऊँचा उठा होता है। जो प्रगतिशील दृष्टि से हर बात को यथार्थ के प्रकाश में देखकर अपनाने अथवा छोड़ने का साहस रखते हैं, उनके निर्वाचित सदस्यों से गठित सरकार भी उसी प्रकार उच्च स्तरीय एवं यथार्थ दृष्टिकोण की होगी।

आज जो-जो राष्ट्र प्रगतिशीलता का प्रमाण दे चुके हैं, साम्राज्य विस्तार अथवा उपनिवेशवादी उनकी ओर से पूर्णरूपेण निराश हो चुके हैं। किंतु भारत जैसे जो राष्ट्र अभी अपने पिछड़ेपन को ही लिए बैठे हैं, उन पर परभोगी जातियाँ अब भी दाँत लगाये बैठी हुई हैं।

प्रगतिशीलता का अर्थ है—एक नवचेतना, एक जागरूक विवेक जिसके आधार पर कोई अपना हित-अहित ठीक तरह से देख- समझ सके। जो राष्ट्र गुण-दोष, हानि-लाभ के दृष्टिकोण से किसी बात का निर्णय करके अपने लिए मार्ग निर्धारित करते हैं, वे राष्ट्र प्रगतिशील ही कहे जायेंगे। जो अपनी अहितकर कुरीतियों, प्रथाओं एवं परंपराओं को छोड़ने के लिए और उनके स्थान पर नई उपयोगी एवं समयानुसार प्रथा-परंपराएँ प्रचलित करने के लिए खुशी-खुशी तैयार रहते हैं, वे समाज चेतनावान् समाज कहे जायेंगे।

इसके विपरीत जो समाज अथवा राष्ट्र अपने पुराने संस्कारों और पिछड़ेपन को कसकर पकड़े हुए किसी गलत रास्ते पर इसलिए चलते जाते हैं कि उस पर वे बहुत समय से चले आ रहे हैं, प्रगतिशील समाज नहीं कहे जा सकते। भूल को दोहराते रहना, गलती सुधारने का प्रयत्न न करना, अनुपयोगी रीति-नीति अपनाये रहना अथवा अहितकर प्रथा-परंपराओं को गले लगाये रहना—इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि अमुक समाज बहुत ही पिछड़ा हुआ समाज है। उसमें युग के अनुरूप नवचेतना का जागरण नहीं हुआ है। अपनी इस अप्रगतिशीलता की परिस्थिति में कोई भी राष्ट्र धोखा खा सकता है और स्वाधीन होकर भी अपनी स्वाधीनता खो सकता है।

बहुत कुछ प्राचीन होने पर भी गतिशीलता की दृष्टि से हमारे भारतीय राष्ट्र की गणना अभी नवोदित राष्ट्रों में ही है। उसने अभी केवल राजनीतिक स्वतंत्रता ही उपलब्ध की है। उन्नति एवं विकास के नाम पर अभी उसे कुछ उपलब्धियाँ नहीं हो सकीं हैं।

यह बात ठीक है कि देश की उन्नति के प्रयत्न चल रहे हैं। किंतु उन सब प्रयत्नों की पृष्ठभूमि केवल आर्थिक ही है। केवल मात्र आर्थिक उन्नति से ही कोई राष्ट्र समुन्नत राष्ट्र नहीं बन सकता। किसी राष्ट्र की वास्तविक उन्नति तो उसकी सामाजिक उन्नति में ही निहित रहती है। जिसका समाज अपनी कुरीतियों एवं कुप्रथाओं के पापपाश में जकड़ा हुआ है, जिसमें प्रगतिशीलता की नूतन चेतना का जागरण नहीं हो सका है। केवल अर्थोन्नति में कुबेरपुरी के समान हो जाने पर भी वह राष्ट्र उन्नत राष्ट्र नहीं कहा जा सकता।

इस कटु सत्य को स्वीकार करने में किसे आपत्ति हो सकती है कि हमारा समाज प्रगतिशीलता के नाम पर बिल्कुल निकम्मा बना हुआ है ? अभी उसमें वह स्वतंत्र चिंतन और नवचेतना नहीं आ सकी है, जिसके बल पर अपनी अहितकर दुर्बलताओं को समझ सके और उनको छोड़ सके। हजार हानियाँ उठाने के बावजूद भी वह अपने पुराने ढर्रे पर ही चलते रहने में सुविधा अनुभव कर रहा है।

किंतु यदि अपने भारतीय राष्ट्र को शक्तिशाली बनना है, अपनी स्वतंत्रता को सुरक्षित रखना है, तो उसे अपनी उन आंतरिक दुर्बलताओं को दूर करना ही होगा, उन सामाजिक कुरीतियों एवं बुराइयों को छोड़ना ही होगा, जो उसकी वास्तविक प्रगति के पथ में अवरोध बनी हुई हैं।

अपने समाज में न जाने कितनी अनुपयुक्त परंपराएँ एवं हानिकर प्रथायें उत्पन्न होकर बहुत समय से चली आ रही है। किंतु अब और अधिक समय तक उनको सहन करते रहना ठीक न होगा। आज उनका सुधार आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य हो गया है।

भारतीय समाज में फैली कुरीतियों एवं कुप्रथाओं में विवाह जैसे पवित्र कृत्य के साथ बँधी हुई वे कुप्रथायें एवं मान्यतायें प्रमुख हैं, जिनका स्वरूप आर्थिक बरबादी के रूप में प्रकट होकर समाज को हर प्रकार से जर्जर बना रहा है। सामाजिक सुधार का शुभारंभ सामाजिक एवं धार्मिक कुरीतियों के उन्मूलन से किया जाना आज के युग की प्रमुख पुकार है और इसके लिए साहसपूर्वक अग्रसर होना—हम सबका पवित्र कर्तव्य है।

सामाजिक कुरीतियों को छोड़ने का साहस ही प्रगतिशीलता है। जिस दिन यह शुभ साहस भारतीय समाज में आ जायेगा यह संसार का सबसे शक्तिशाली समाज बनकर खड़ा हो जायेगा। आज जो देश इसकी ओर लालच भरी दृष्टि से देख रहे हैं, तब वे इसकी ओर आँख भी न उठा पायेंगे। बल्कि उलटे सहयोग की दिशा में बढ़कर आते हुए दिखाई देंगे।

सारा संसार जानता है कि भारतीय समाज में न तो बुद्धि की कमी है, न विद्या की और न वीरता व बलिदान की; यदि उसमें कोई कमी है, तो केवल उस प्रगतिशीलता की—जिसकी आज के युग में बहुत आवश्यकता है। जिस दिन यह वांछित प्रगतिशीलता भारतीय समाज में आ जायेगी, यह संसार का सबसे अग्रगामी समाज होगा और जिस प्रकार यह कभी जगद्गुरु बनकर संसार का पथ-प्रदर्शन करता रहा है, आगे भी करेगा। अपने समाज, अपने राष्ट्र को अग्रगामी रखने को संसार के सारे लोग प्रयत्नशील हो रहे हैं, तब क्या कारण है, हम भारतीय ही अपने पिछड़ेपन के गुलाम बने हुए अपने समाज की उन्नति के लिए आगे न बढ़ें ?

आत्म-निरीक्षण की घड़ी आ पहुँची

संसार में उन वस्तुओं का सम्मान होता है, जो उपयोगी होती हैं। अपनी उपयोगिता के बल पर ही कोई वस्तु लोकप्रिय, चिरस्थायी और सुविकसित रह सकती है। जिसकी जितनी उपयोगिता घटती है, उसकी उतनी उपेक्षा होती है और धीरे-धीरे जब वह घटोतरी बहुत अधिक हो जाती है, तो उस अनुपयोगी वस्तु से लोग घृणा करने लगते हैं और उसके नाश की तैयारी होने लगती है।

कमाऊ युवा पुरुष जो परिवार संचालन के लिये उपयोगी सिद्ध होते हैं—घर भर का सम्मान पाते हैं। उनके मरने पर घर भर में कुहराम मच जाता है, पर वही व्यक्ति जब वृद्ध होकर अपनी उपयोगिता खोकर घर के लोगों के लिये भार बन जाता है, तब उसका कोई मूल्य नहीं रह जाता है, उसके मरने पर किसी को गहरा रंज नहीं होता, सच तो यह है कि बहुत दिन पहले से ही उसके मरने की प्रतीक्षा की जाने लगती है। युवा वृद्ध ही क्यों ? संसार की हर वस्तु के बारे में यही नियम काम करता है। उपयोगिता के कारण ही कोई वस्तु लोकप्रिय होती और आदर पाती है। लोग हर चीज को लाभ-हानि की कसौटी पर कसते हैं। खरी का सम्मान और खोटी का तिरस्कार, यह प्रथा चिरकाल से चली आ रही है।

धर्म के बारे में भी यही बात है। किसी समय यह देश धर्म-प्राण था, हर व्यक्ति धर्म के लिये अपनी जान देने और उसके लिये सब कुछ निछावर करने को तैयार रहता था, पर अब उसकी सर्वत्र उपेक्षा होती है। नई पीढ़ी के बच्चे उसका उपहास करते हैं। तार्किक लोग उसे व्यर्थ मानते हैं और उस झंझट से बचने की कोशिश करते हैं। इससे आगे बढ़े हुये अधिक उत्साही लोग उसे हानिकारक बताते हैं और उसका विरोध भी करते हैं। कम्युनिस्ट अथवा वैसी ही विचारधारा के लोगों का धर्म के प्रति घृणा एवं विरोध का भाव प्रसिद्ध ही है।

ऐसा परिवर्तन क्यों हुआ ? इस प्रश्न पर हमें गंभीरता से विचार करना होगा। किसी समय के धर्म-प्राण देश में विचारशील लोग उसका तिरस्कार एवं उपहास करें, इसका कुछ तो कारण होना ही चाहिये। यों रूढ़िवादी लोग अन्यमनस्क अभिरुचि के साथ पुरानी लकीर को पीटते रहते हैं, पर उनमें भी श्रद्धा दिखाई नहीं पडती। कोई स्वल्प व्यय में पापों के नाम और मनोरथों की पूर्ति के लिये, कोई दिखावे और प्रशंसा के लिये, कोई परंपरा की लकीर पीटने के लिये धर्म की चिह्न पूजा तो कर लेते हैं, पर ऐसी श्रद्धा किन्हीं बिरलों में ही होगी जिन्हें धर्म-प्राण कहा जा सके।

रूढ़िवादी लोग किसी प्रकार धर्म की चिह्न-पूजा करते रहे, इतने मात्र से कुछ काम नहीं चल सकता। इतने भर से धर्म की प्रतिष्ठा एवं सामर्थ्य अक्षुण्य नहीं रह सकती। विचारशील, बुद्धिवादी सुशिक्षित एवं समझदार लोग ही किसी समाज की रीढ़ कहलाते हैं। वे जैसा सोचते और जैसा करते हैं, देर-सबेर में सामान्य एवं स्तर के लोगों को भी उनका अनुकरण करना होता है। यदि आज विचारशील लोगों में से धार्मिकता घट रही है, तो कल सामान्य लोगों में से भी घटेगी ही।

नेतृत्व सदा बुद्धिजीवी लोगों के हाथों में रहा है। हजार पिछड़े हुए लोगों की अपेक्षा एक विचारशील का महत्त्व अधिक है। आज हम सुशिक्षित वर्ग के प्रति उदासीनता या उपेक्षा भाव धारण किये देखते हैं। नई पीढ़ी के उच्च शिक्षा प्राप्त युवक शिखा-सूत्र जैसे धर्म-चिह्नों को धारण करने में अपनी हेठी मानते हैं। धार्मिक क्रियाकलापों से दूर रहते हैं। यह स्थिति चिंताजनक है, क्योंकि कल इन्हीं लोगों के हाथ में नेतृत्व जाने वाला है। देहातों में यहाँ-वहाँ जो धर्म की चिह्न-पूजा आज दिखाई पड़ती है, वह भी वृद्धों के जीवन काल तक चल सकती है। सुशिक्षित एवं विचारशील लोग उसे न अपनावें तो अगले दिनों धर्म की स्थिति दयनीय हुए बिना न रहेगी।

कलियुग आ गया, पाश्चात्य सभ्यता ने नाश कर दिया, अंग्रेजी शिक्षा बुरी है, जमाना अधार्मिक हो गया, आदि बातें कहकर

धर्म के प्रति बढ़ती हुई अश्रद्धा का समाधान नहीं हो सकता। इसके कारणों पर गंभीरता से विचार करना होगा कि ऐसा परिवर्तन भारत जैसे धर्म प्राण देश में और विशेषतया हिंदुओं में ही क्यों हुआ ? इस देश में मुसलमान और ईसाई भी रहते हैं। उनके धर्म दर्शन से हिंदू-धर्म दर्शन किसी प्रकार घटिया नहीं, हमारे आदर्श बहुत ऊँचे और सच्चे हैं, ऐसी दशा में हमारी धर्म भावना औरों से अधिक सुदृढ़ होनी चाहिये थी। पर देखा यह जाता है कि अन्य धर्मावलंबी अपने धर्मों पर जितनी श्रद्धा करते हैं, उतनी हम नहीं।

अधिकांश मुसलमान पुरुषों और स्त्रियों का उनके जीवनयापन का ढंग, पहनाव, उढ़ाव, खान-पान, वेश-विन्यास, भाषा, भावना उनके धार्मिक विश्वासों के अनुरूप मिलेगी। ईसाइयों में उनकी धार्मिक श्रद्धा कितना बढ़ी-चढ़ी है। इसका अनुमान उन्हें भारत के अन्य प्रदेश में रहने वाले पिछड़े लोगों एवं हरिजनों के बीच रहते हुए—अभावों और असुविधाओं से भरा जीवन व्यतीत करते हुए देखकर सहज ही लगाया जा सकता है। जिन पाश्चात्य देशों ने अपना ईसाई धर्म यहाँ भेजा है उन्होंने उसके लिए पिछले दिनों अरबों रुपया और हजारों लाखों पादरियों के व्यक्तित्व संपन्न जीवन भी दिये हैं। सिखों में अपने धर्म के प्रति भावना है। नवयुवक सिखों को दाढ़ी, केश रखाते, अपने धर्म चिह्न धारण किये देखते हैं, तो उसकी निष्ठा का सहज ही पता लग जाता है।

संसार में अन्य धर्म तेजी से बढ़ रहे हैं। ईसाई धर्म के जन्म को दो हजार वर्ष हुए हैं। उसका व्यवस्थित रूप ईसा के ३०० वर्षों बाद सेंटपाल के प्रयत्नों से बन पाया था। इस प्रकार उसे १७०० वर्ष ही होते हैं। इतने स्वल्प समय में उस धर्म ने संसार की लगभग आधी आबादी को अपने विचारों से दीक्षित कर दिया है। संसार में कुल ६ अरब लोग रहते हैं। कुछ वर्ष पूर्व की सूचना के अनुसार ईसाईयों की जनगणना २ अरब थी। अब तक वह सवाई ड्योढ़ी जरूर हो गई होगी। इस प्रकार लगभग आधी दुनिया ईसाई धर्म में दीक्षित हो गई और उसमें कुल सत्रह सौ वर्ष लगे।

दूसरे नंबर पर मुसलमान धर्म आता है। उनकी संख्या भी ६५ करोड़ से ऊपर है। मध्यकाल में जोर-जबरदस्ती का प्रयोग भले ही रहा हो, पर कोई बात इसी से फलने-फूलने नहीं लग सकती। उसकी कुछ विशेषता भी होनी चाहिए। मुसलमानों के पास ईसाइयों जितने साधन-सुविधा नहीं हैं, फिर भी उनकी निष्ठा ने आश्चर्यजनक विस्तार कर लिया। कुल ११३७ वर्षों में ६५ करोड़ व्यक्तियों का मुसलमान धर्म में दीक्षित हो जाना इस बात का द्योतक है कि—साधन न भी हों, तो भी निष्ठा के बल पर कोई धर्म संसारव्यापी बन सकता है। अरब में पैदा होकर इस्लाम धर्म अफ्रीका, एशिया, योरोप के छोटे-बड़े प्रायः सभी देशों में काफी गहराई तक अपनी जड़ें जमाने में समर्थ हुआ है।

कम्युनिज्म और ईसाइयत से करारी टक्कर लेते हुए भी बौद्धधर्म अभी भी ५० करोड़ से अधिक लोगों का धर्म है। भगवान् बुद्ध को २५०० वर्ष हुए हैं। उनके धर्म का विस्तार महाराज अशोक ने किया। इस प्रकार बौद्धधर्म की प्रसार प्रक्रिया को २१-२३ सौ से अधिक वर्ष नहीं हुए। इतने दिनों में इसका विस्तार भी काफी हुआ। आज उनमें भी हिंदुओं जैसे दोष आ जाने से सितारा ढल रहा है। फिर भी हिंदुओं की अपेक्षा वे अभी भी अधिक संख्या में हैं।

उपलब्ध सूचनाओं के अनुसार भारत में हिंदू धर्मावलंबियों की संख्या ४५ करोड़ है। समस्त संसार में जहाँ-तहाँ बिखरे हुए हिंदू एक करोड़ के करीब हैं। इस प्रकार यह संख्या कुल मिलाकर ४६ करोड़ हो जाती है। हमारे धर्म का प्रादुर्भाव सृष्टि के आदि में ही हुआ था। १० लाख वर्षों से यह समस्त संसार में व्याप्त रहा। अभी संसार भर में हिंदू सभ्यता के जो चिह्न उन देशों के पुरातत्त्व विभागों को मिले हैं, उनसे प्रतीत होता है कि किसी समय इस धरती के कोने-कोने में हिंदू संस्कृति फैली हुई थी। महाभारत काल तक का इतिहास यह बताता है कि, संसार में जितनी भी जनसंख्या थी, वह सभी हिंदू धर्म से दीक्षित थी, देश, काल भाषा आदि के भेदों के कारण वहाँ हिंदू धर्म का बाह्य स्वरूप थोड़ा-थोड़ा भिन्न था, फिर भी भावनात्मक दृष्टि से समस्त विश्व में हिंदू मान्यताएँ ही

व्याप्त थीं। संसार भर के विचारशील लोगों ने उसकी महत्ता एवं उपयोगिता को एक स्वर से स्वीकार किया था।

पिछले डेढ़-दो हजार वर्षों में यह आश्चर्यजनक परिवर्तन कैसे हो गया, यह विचारणीय है। बौद्ध, ईसाई, मुसलमान तीनों मिलाकर चार अरब से अधिक हो जाते हैं। उनकी संख्या संसार की आबादी की दो तिहाई है। इसकी तुलना में हिंदू धर्म को देखिये, वह संसार भर से सिकुड़ता हुआ केवल भारत में शेष रह गया है। विदेशों में जो हिंदू हैं, उनमें से अधिकांश भारतवंशीय हैं। क्या अन्य देशों के नागरिक हिंदू धर्म मानते हैं ? तो इस संबंध में नकारात्मक ही उत्तर मिलेगा। वंश परंपरागत माध्यम से जो भारतवासी हिंदू बने हुए हैं, उनमें से भी विचारशील लोग जब उपेक्षा, घृणा, तिरस्कार, उपहास और अविश्वास के भाव उसके प्रति रखेंगे तो यही कहा जा सकता है कि एक-दो पीढ़ियों के बाद उनका अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायगा।

झूठे आत्मसंतोष के लिए हम कलियुग आ गया, धर्म चला गया, पाश्चात्य शिक्षा आ गई आदि बातें कहकर अपने को भुलावे में डाल सकते हैं। वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। कलियुग हिंदुओं पर ही थोड़े आया है। उसे संसार भर में आना चाहिए था और धर्म के प्रति व्यापक उपेक्षा एवं घृणा भाव बढ़ाना चाहिए था, पर ऐसा न होकर उलटा ही हुआ है। ईसाई धर्म समस्त संसार के हर देश में अपने धर्म का प्रसार करने के लिए अरबों रुपया खर्च करता है और लाखों सुशिक्षित व्यक्ति धर्म प्रसार में लगे हैं। यदि धर्म के प्रति अश्रद्धा या उपेक्षा होती तो इतनी बड़ी संख्या में धन-जन की व्यवस्था कैसे हुई होती ? पाश्चात्य शिक्षा भारत में तो अधकचरी ही है, पर जहाँ से पैदा हुई और पनपी है, वहाँ भी तो धर्म की प्रौढ़ता विद्यमान है।

कारण दूसरा ही है, जिस पर हमें गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिए और वह है अपनी उपयोगिता खोते जाना। हिंदू-धर्म निस्संदेह अपनी उपयोगिता खोता चला जा रहा है। उसमें रहने वाला व्यक्ति जब अन्य धर्मावलंबियों से अपनी तुलना करता है तो

उसकी विवेक बुद्धि सहज ही बता देती है कि वह किस समाज में रहता है ? वह दूसरों की अपेक्षा बहुत पिछड़ा हुआ है। दर्शन उसका कितना ही ऊँचा क्यों न हो, आदर्श उसके कितने ही महान् क्यों न हों, पर व्यवहार का जहाँ तक संबंध है, वह ऐसा है कि अनुपयुक्त एवं असुविधाजनक ही कहा जा सकता है। दर्शन ऊँचा और व्यवहार नीचा हो तो उसे दंभ ही कहा जा सकता है।

आवश्यकता इस बात की है कि हम गहरा आत्म-निरीक्षण करें और जिन बीमारियों ने समाज शरीर को गलाना शुरू कर दिया है, उसे उपयुक्त चिकित्सा द्वारा निरोग बनाने का प्रयत्न करें। हिंदू-धर्म निश्चित रूप से महान् है, पर वह महानता वेद-पुराणों तक सीमित न रहकर हमारे सामाजिक जीवन में भी व्यवहृत होती हुई दृष्टिगोचर होनी चाहिए। स्थिति चिंताजनक है। दूसरे उसे स्वीकार करें, यह तो प्रश्न पीछे का है। पहली समस्या तो अपनों की उपेक्षा की हल करनी है। यदि यह हल न हुई तो समझना चाहिए—भविष्य अंधकारपूर्ण ही सामने आयेगा।

प्रगति के लिये नागरिक चेतना आवश्यक

जिस देश के निवासी जितने अधिक सभ्य और नागरिक चेतना वाले होते हैं, वह देश और समाज उतनी ही उन्नति करता है, क्योंकि ऐसा होने से सारे लोग जहाँ एक-दूसरे से अपने अधिकार पाते हैं, वहाँ देते भी हैं। ऐसी दशा में समाज के निकृष्ट संघर्ष समाप्त हो जाते हैं और सुख-शांतिपूर्ण परिस्थितियों में समाज प्रगति पथ पर तेजी से बढ़ता जाता है। अस्तु देश, राष्ट्र और समाज की उन्नति के लिए लोगों को अपने-अपने अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्यों के प्रति अधिक जागरूक रहना चाहिए।

भारत को स्वाधीनता पाये पाँच दशाब्द पूर्ण हो गया है। इस अवधि में उसने जहाँ राजनीति अथवा आर्थिक उन्नति की है, वहाँ नागरिक चेतना में कुछ पीछे ही हटा दृष्टिगोचर होता है। पहले विदेशी शासन था और शासन भी एक ऐसी जाति का जो सभ्यता एवं नागरिकता के क्षेत्र में संसार में सबसे आगे समझी जाती थी।

उस समय लोग कुछ राजदंड के भय से और कुछ अपने को भी सभ्य नागरिक सिद्ध करने के लिए कमोबेश नागरिक नियमों का पालन करने का प्रयत्न करते रहते थे। किंतु अब जब से घर की सरकार हो गई है, लोगों से राजभय की भावना निकल गई है और उन्होंने स्वतंत्रता का अर्थ मनमाने ढंग से जो कुछ चाहें करना मान लिया है।

पहले मुआयना आदि करने के लिए अंग्रेज अफसर आते थे और प्रबंधक व व्यवस्थापक लोग हर तरह की सफाई, स्वच्छता और नागरिक नियमों के पालन करने और करवाने में काफी सावधानी बर्तते थे, किंतु अब अपने भाई-बंद आते हैं, इसलिए यह सावधानी कम हो गई है।

यह बिल्कुल उल्टी बात है। होना तो यह चाहिए था कि एक बार पराधीनता की परिस्थिति में लोग भले ही नागरिकता के नियमों का पालन करने की चेतना से शून्य रहते, किंतु अब स्वाधीनता के समय तो उन्हें पराकाष्ठा तक नागरिक नियमों का पालन करना चाहिए था, क्योंकि जहाँ पहले सारा दायित्व अंग्रेज सरकार पर जाता था, वहाँ वह सब दायित्व स्वयं अपने ऊपर है। पहले हर गलत और गंदे कामों के लिए अंग्रेजों की बदनामी होती थी, वहाँ अब स्वयं भारतवासियों की होती है।

अब भारतवासियों को जहाँ राजनीति के क्षेत्र में संसार में अपना स्थान बनाना है, वहाँ सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में भी स्थान पाना है। यह निश्चित है कि आज के युग में राजनीतिक क्षेत्र में आगे बढ़े हुए देश भी यदि सभ्यता एवं संस्कृति में पीछे रह जाते हैं तब भी वे संसार में अपना समुचित सम्मान नहीं पा सकते।

आज की नागरिकता केवल एक देशीय नहीं रह गई है, बल्कि वह मानव सभ्यता के रूप में होकर सार्वभौम बनती जा रही है। ऐसी दशा में जिसके नागरिक अधिक सभ्य, अधिक जिम्मेदार और अधिक मानवीय चेतना वाले होंगे, वही देश बाजी मार ले जायगा और संसार में सबका अगुआ बन जायेगा।

भारत कभी संसार का अगुआ ही नहीं, जगद्‌गुरु माना जाता रहा है। यहाँ की सभ्यता एवं संस्कृति से प्रकाश लेकर ही संसार के अधिकांश देश सभ्य बनकर अपने समाजों में नागरिक चेतना जाग्रत् कर सके हैं तो अब सीखने वाला आगे निकल जाये और सिखाने वाला पीछे पड़ जाये तो यह बात कुछ जँचती नहीं। आज संसार की सभ्यता-संस्कृति में सर्व प्रमुख स्थान पाने के लिए देशों में स्पर्धा पड़ी हुई है। हर देश अपनी सभ्यता का सिक्का संसार में जमाना चाहता है। तब कोई कारण नहीं मालूम होता कि विद्या-बुद्धि में किसी देश से कम न होने वाला भारत इस प्रतियोगिता में भाग न ले और मैदान जीतकर न रहे। किंतु यह होगा तब जब भारतवासी अपने में उच्चकोटि की नागरिक चेतना जगायेंगे और ठीक-ठीक उसके अनुसार व्यवहार करना सीखेंगे।

राष्ट्रीयता का क्षेत्र बढ़कर अंतर्राष्ट्रीयता में बदल रहा है। संसार के सारे देश एक-दूसरे के घनिष्ट संपर्क में आ रहे हैं। देशकाल की दूरियाँ मिटती जा रही हैं। एक देश के नागरिकों का दूसरे देशों में आवागमन हो रहा है। एक देश के लोग दूसरे देशों की सभ्यता व संस्कृति का गहन अध्ययन कर रहे हैं। तात्पर्य यह कि आज एक देश का किसी दूसरे देश से कोई परदा नहीं रह गया है। ऐसी दशा में सबका सत्य स्वरूप सबके सामने आना स्वाभाविक ही है। तब ऐसा कौन-सा स्वाभिमानी देश होगा, जो यह चाहे कि किसी के सामने उसकी गंदी तस्वीर आये ?

यदि आज भारत के निवासी अपने स्वभाव में नागरिकता की सिद्धि नहीं करते तो न तो वे अन्य देशों में जाकर अपने को किसी सभ्य देश का सुशील नागरिक प्रमाणित कर सकते हैं और न अपने देश में आये विदेशियों पर यह प्रकट कर सकते हैं कि भारत एक सभ्य एवं नागरिक चेतना वाला देश है। यदि हम ठीक-ठीक नागरिक अभ्यास वाले नहीं हैं तो विदेशों में जाने पर बहुत कुछ सावधान एवं सतर्क रहने पर त्रुटि करेंगे और तब ऐसी दशा में अपने देश का गौरव गिराने वाले बनेंगे, क्योंकि पेड़ के एक फल से सारे फल और एक चावल से बटलोई के सारे चावल पहचान लिए

जाते हैं। क्या पता किसका संपर्क किससे, किस समय हो जाये ? और तब ऐसा न हो कि कोई ऐसा व्यवहार हो जाये, जिससे देश का अनागरिक होने का अपवाद लग जाये। इसलिए बच्चे से लेकर बूढ़े तक सारे स्त्री-पुरुषों को पूर्ण रूप से नागरिकता के नियमों का पालन करने का यहाँ तक अभ्यस्त होना चाहिए कि वह उनका सहज स्वभाव बन जाये।

केवल विदेश में व्यवहार करने भर के लिये नागरिकता का अभ्यास करने से काम न चलेगा, बल्कि पूरे देश को अपने देश में आये विदेशियों पर नागरिकता की छाप छोड़ने के लिए पूर्ण रूप से तैयार होना आवश्यक है। यदि कोई दस-बीस सामयिक तैयारी करके विदेश में अनागरिक सिद्ध न भी हुए तब भी देश में आने वाले विदेशियों से कदम-कदम पर देश की दिनचर्या में व्याप्त अनागरिकता को किस प्रकार छिपाया जा सकता है ? इसलिए आवश्यक यह है कि भारत का प्रत्येक आबाल-वृद्ध नागरिकता के एक ऐसे साँचे में ढल जाये कि उसके घर-द्वार, हाट-बाट, नगर-ग्राम, कहीं भी कोई ऐसा स्थान न हो, जहाँ का वातावरण अनागरिक दीखे अथवा अनुभव हो। क्या देशी और क्या विदेशी, जिसकी भी नजर जिस पर और जिस स्थान पर पड़े, वहाँ उसे एक सभ्य नागरिकता की ही झलक दिखाई पड़े।

एक ओर जहाँ भारत का धार्मिक साहित्य ही नहीं, समग्र वाड्मय नागरिकता, मानवता, सभ्यता एवं संस्कृति के संदेशों से भरा पड़ा हो, वहाँ उसके निवासियों के व्यावहारिक जीवन में उससे विपरीत लक्षण दिखाई दें, तो भारतीयता पर मुग्ध विदेशी विद्वान् अध्येता क्या कहेंगे ? वे निश्चित रूप से भारतवासियों को मिथ्यावादी मानेंगे और तब उनका बहुमूल्य जीवन-दर्शन कौड़ी-कीमत का होकर संसार की दृष्टि में गिर जायेगा। कदाचित् कोई भी भारतवासी ऐसा न होगा, जो यह चाहे कि उसके देश, दर्शन तथा सभ्यता व संस्कृति की इस प्रकार अवमानना हो। तब उसे शपथपूर्वक अपने में और अपने आस-पास एक स्थायी नागरिक चेतना का विकास करना ही होगा।

नागरिकता क्या है ? इसे थोड़े से शब्दों में यों समझ लेना चाहिए कि—"ऐसा कोई भी व्यवहार किसी भी समय प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में न करना जो किसी के लिए किसी भी समय प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से किसी भी परिमाण में शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक अथवा अध्यात्मिक आघात का हेतु बने।"

नागरिकता की परिभाषा में यह एक वाक्य जीवन के लिए एक बड़ी भारी शृंखला-सा मालूम होता है और शंका हो सकती है कि, इन सारी बातों का हर समय एक साथ ध्यान किस प्रकार रखा जा सकता है ? इसका साधारण-सा उपाय यह है कि—"किसी दूसरे के साथ वह व्यवहार न करो, जो आपको अपने लिए पसंद नहीं।" इस प्रकार नागरिक व्यवहार के नाप-तोल की तराजू हर समय आपके पास रहेगी। हमें क्या नापसंद है ? यह जानने के लिए तो किसी को किसी समय मनन-चिंतन करने की आवश्यकता होगी नहीं। किसी के साथ कहीं पर भी कोई व्यवहार करने से पूर्व् उसे अपने मन में अपने पर घटाकर तोल लो कि यदि यह व्यवहार हमारे साथ किया जाये तो क्या हमें वह पसंद होगा ? यदि 'हाँ', तो उस व्यवहार का संपादन करो और यदि 'नहीं' तो वह व्यवहार कदापि न करो। बस इतना मात्र करने से ही आप में एक उदात्त नागरिक चेतना पनपने और फूलने-फलने लगेगी, जिससे आप न केवल दूसरों को ही सुखी करेंगे अपितु स्वयं भी सुखी होंगे।

साधारण-सी बात है कि जब हम ठीक-ठीक नागरिक होंगे तो दूसरों से नागरिक व्यवहार भी करेंगे, जिसका फल यह कि हमारा किसी से कोई टकराव ही न होगा और तब हमारी स्वाभाविक जीवन धारा स्निग्ध रूप से बहती चली जायेगी। व्यक्ति, व्यक्ति से बढ़कर जब यह नागरिक व्यवहार समाज में पहुँच जायेगा तो सभी सबसे नागरिकता का व्यवहार करने लगेंगे। ऐसी दशा में संपूर्ण समाज से ही संघर्ष उठ जायेगा और तब ऐसी सुख-शांति की अवस्था का उन्नति करना स्वाभाविक ही है।

इस प्रकार जब व्यक्ति और समाज समानरूप से उन्नति करेंगे तो राष्ट्र आप ही उन्नति पथ पर बढ़ने लगेगा। आज सारा संसार उन्नति करने का प्रयत्न कर रहा है और हमारा देश भारत भी। व्यक्तिगत, सामाजिक और राष्ट्रीय उन्नति की सिद्धि तथा अपने सुख के लिए ठीक-ठीक नागरिक बनना कितना आवश्यक है ? यह स्पष्ट हो जाने पर ऐसा कौन होगा, जो इस राष्ट्रीय अभियान में हाथ न बटाये ?

हम अपने राष्ट्रीय कर्तव्यों के प्रति सजग रहें

राष्ट्र और उसकी प्रतिष्ठा को बनाये रखने का कार्य नागरिकों द्वारा पूरा होता है। राष्ट्र एक विशाल परिभाषा है, जिसके अंतर्गत धर्म, जाति तथा संस्कृति आदि सभी आ जाते हैं, इसलिये राष्ट्र की रक्षा का अर्थ ही धर्म रक्षा है। राष्ट्र के विकास में सहयोग देना ही जातीय विकास में सहयोग देना हुआ और यदि राष्ट्र को समृद्ध बनाते हैं तो उससे अपनी संस्कृति समृद्ध बनती है। राष्ट्र की मर्यादाओं का पालन सर्वोच्च धर्म है। इस धर्म का पालन समुचित रीति से होता चले, इसके लिये आवश्यक है कि उसका प्रत्येक नागरिक एक कुशल नागरिक बने और उसकी आवश्यकताओं के लिये अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं को छोटा समझे। जिस देश में ऐसे नागरिक होते हैं, वह देश कभी पराजित नहीं होता, धन-धान्य की भी उसे कोई कमी नहीं रहती।

देश के प्रति अपने कुछ विशेष उत्तरदायित्वों का पालन करना प्रत्येक नागरिक का धर्म है। यह जनतांत्रिक युग है और इस प्रणाली से राज्य संचालन की बागडोर परोक्ष रूप से सभी पर आती है, इस प्रणाली में अन्य प्रकार की राज्य सत्ताओं से न्याय तथा विकास की सुविधायें भी अधिक होती हैं; किंतु यह तभी संभव है, जब उसका प्रत्येक नागरिक अहिंसा तथा शांतिपूर्ण उपायों का सदा अवलंबन करते हुए उसकी व्यवस्था और विकास में पूर्ण सहयोग देता रहे। हमें जो मौलिक अधिकार मिलते हैं, अपनी व्यक्तिगत

समुन्नति के लिये उनका उपयोग तो करें, किंतु राष्ट्रहित में जिन कर्तव्यों का पालन आवश्यक हो उन्हें भी पूरा करने में विलंब न करें। अधिकार तथा कर्तव्यों के समुचित पालन से ही राष्ट्र में एक व्यक्ति की भी समुचित व्यवस्था हो पाती है। अतएव हमें नागरिक कुशलता लाने में भी पीछे न रहना चाहिए।

लोकतंत्र का अर्थ है प्रजा की सरकार, जिसे प्रजा के लिये प्रजा ही संचालित करती है। यह विधि वयस्क मताधिकार द्वारा पूर्ण होती है। नागरिक कुछ विशिष्ट नागरिकों को चुनकर अपना प्रतिनिधि नियुक्त करते हैं। न्याय और कानून की व्यवस्था इन्हीं निर्वाचित लोगों के हाथ होती है। अधिकारी राज्य संचालन कुशलता और कर्तव्यपरायणता द्वारा पूरा करते हैं या नहीं, यह उन सदस्यों के व्यक्तित्व पर निर्भर है, पर यह जिम्मेदारी नागरिकों की ही है कि वे नेक ईमानदार और चरित्रवान् लोगों को अपना नेता चुनें। यदि वे अपना "वोट" किसी गलत व्यक्ति को देते हैं, तो वह उनके अधिकार का दुरुपयोग समझा जायेगा। इसलिये प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होता है कि वह पार्टी, जाति, प्रांतीयता, भाषा आदि का भेदभाव भूलकर केवल उन्हें ही अपना मत दे, जो निष्ठापूर्वक राज्य संचालन की शक्ति और योग्यता रखते हों। उसे अपना मत बरबाद भी नहीं करना चाहिये, अन्यथा प्रजातंत्र में जो अच्छाइयाँ जानी जाती हैं उनका लाभ लोगों को मिल न पायेगा। योग्यता होने पर स्वयं भी नेतृत्व के लिये आगे आ सकते हैं। यह भी नागरिक कर्तव्य ही है।

वोट देकर नागरिक के कर्तव्य समाप्त नहीं हो जाते, उसे न्याय और कानून पालन में भी पूर्ण सहयोग देना पड़ता है। यह निश्चित है कि समाज में बुरे व्यक्तियों द्वारा अपराध अवश्य होंगे। कानून में ऐसे अपराधियों के लिये दंड की भी समुचित व्यवस्था होती, किंतु सरकार क़िसी को तब तक दंडित नहीं कर सकती जब तक उसे दोषी प्रमाणित न कर दिया जाय। यह उत्तरदायित्व नागरिकों पर आता है कि वे जहाँ भी दुष्प्रवृत्तियाँ एवं अपराध होता हुआ देखें, उसके उन्मूलन में सरकार की पूरी-पूरी मदद करें। उन्हें

यह बताना चाहिये कि अमुक व्यक्ति ने सचमुच अपराध किये हैं। यदि व्यक्ति दोषी नहीं है, तो उच्छृंखल तत्त्वों द्वारा उसे दंडित कराने के प्रयास को विफल भी करना चाहिये। न्याय संबंधी मामलों में पूछे जाने पर अपनी जानकारी द्वारा निर्णायक की हर संभव मदद करनी चाहिये। यह कानून व्यवस्था में प्रत्यक्ष सहयोग देना हुआ।

कुछ कार्य ऐसे होते हैं—जिन्हें सरकार अपनी इच्छा से पूरा करती है या जिनमें जनता किसी प्रकार का प्रत्यक्ष सहयोग नहीं दे सकती। जैसे विदेशी आक्रमणकारियों द्वारा रक्षा के लिये सेना रखनी पड़ती है। यातायात के लिये सड़कों तथा रेलों का प्रबंध करना पड़ता है। डाक, तार की व्यवस्था, घाटों तथा पुलों का निर्माण, आंतरिक सुरक्षा व्यवस्था के लिये पुलिस तैनात करनी होती है। यह सारे कार्य सरकार प्रत्येक नागरिक से नहीं करा सकती। इसके लिये वैसे ही कुछ विशिष्ट व्यक्ति प्रशिक्षित किये जाते हैं। सेना के अफसरों तथा सिपाहियों को अस्त्र-शस्त्रों का प्रशिक्षण मिलता है, सड़कों आदि के लिए मजदूर तथा इंजीनियर काम में लगाये जाते हैं, हर तरह के कार्यों के लिये वैसे ही योग्यता के व्यक्ति दक्ष करने पड़ते हैं। यह कार्य सरकार धन के माध्यम से संचालित करती है। धन प्राप्ति के लिये यद्यपि वह प्राकृतिक स्रोतों का भी सहारा लेती है, तो भी उतने से उसका कार्य नहीं चलता; अतः इसमें भी प्रजा के परोक्ष सहयोग की अपेक्षा की जाती है। जनता कर देकर यह कर्तव्य भी पूरा करती है। चूँकि सरकार द्वारा जारी किये गये विभिन्न विभाग और उनके कार्य नागरिकों के हित व कल्याण के लिये ही होते हैं, इसलिए उन्हें भी चाहिए कि वे लगान या कर देने में चोरी न करें, उन्हें समझदारीपूर्वक भुगतान करते रहें, ताकि सारे सरकारी कामकाज भली प्रकार चलते रहें।

देश की संपूर्ण प्रवृत्तियों के संचालन की व्यवस्था केंद्रीय होती है, इसे संविधान कहेंगे। संविधान के प्रति सम्मान एवं उसके नियमों का पालन भी प्रत्येक नागरिक का धर्म-कर्तव्य है। संविधान और उसके झंडे के प्रति नागरिक वफादार न रहें तो संगठन विशृंखलित

हो जायें और दूसरे साम्राज्यवादी देश उन्हें अपने शासन में दबोच लें। ऐसी अवस्था में उस देश के नागरिक गुलाम या शासित माने जाते हैं और उनके विकास की समुचित व्यवस्था पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। इसका कटु अनुभव इस देश को प्राप्त है। सदियों की गुलामी का प्रभाव अभी तक हमारे देश में छाया है और उसके कुफलों से आगे भी बहुत दिनों तक दुःख भोगते रहेंगे। परतंत्र नागरिकों को उनकी संतानें कोसती रहती हैं और उन्हें कहीं भी सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता है। इसलिये संविधान के प्रति निष्ठावान् होना और उसके रक्षा में यदि आवश्यकता पड़े तो सर्वस्व बलिदान के लिये भी तत्पर रहना प्रत्येक सद्-नागरिक का कर्तव्य हो जाता है। राष्ट्रीय ध्वज का सम्मान सारे राष्ट्र का सम्मान है, अतः उसका कभी भी अनादर नहीं करना चाहिये। उसके प्रति श्रद्धा तथा भावनात्मक एकता बनी रहनी चाहिये।

भारतवर्ष अनेक धर्म संप्रदायों का देश है, इससे इनकार नहीं करते, किंतु राष्ट्रीय एकता के लिये सांप्रदायिक संकीर्णता खतरनाक होती है, अतः जहाँ ऐसा विवाद दिखाई दे, वहाँ धर्म और जातीय संकीर्णता को मिटाकर राष्ट्र की अखंडता व भावनात्मक एकता की रक्षा करनी चाहिये। राष्ट्र सुरक्षित है तो धर्म भी सुरक्षित है। राष्ट्र पददलित हुए तो धर्म पहले भ्रष्ट हो जाते हैं। यह बात हृदय में खूब गहराई तक उतार लेनी चाहिये। धर्म से भी राष्ट्र बड़ा है, क्योंकि धर्म-रक्षक भी वही होता है। अतः धार्मिक संकीर्णता या सांप्रदायिक विविधता के द्वारा उसकी प्रभुता को आँच नहीं आने देनी चाहिये। किसी ऐसे दल या संगठन को जो किसी राष्ट्रीय एकता एवं अखंडता को क्षति पहुँचा रहा हो, उसे सहयोग देना किसी अच्छे नागरिक का कर्तव्य नहीं माना जायेगा।

राष्ट्र के प्रति आपके हृदय में पूर्ण सम्मान है, आप उसे प्रेम करते हैं और उसकी जिम्मेदारियों को पूरा करते हैं, पर जब तक ऐसी भावनायें सभी में नहीं होंगी, तब तक आंतरिक कलह और बाह्य आक्रमणों का खतरा बना रहेगा। जयचंद और मीरजाफर की तरह देश को कलंकित, अपमानित एवं पराजित कर देने वालों की

भी कमी नहीं है। व्यक्तिगत लोभ में पड़कर बहुत से लोग देशद्रोह करते पाये जाते हैं। ऐसे लोगों से सावधान करना उनकी हरकतों पर निगाह रखना भी हमारा कर्तव्य है। साथ-साथ राष्ट्रीयता की भावनाओं को फैलाते भी रहें। यह कार्य अपने घर, पड़ौस और गाँव से प्रारंभ करना चाहिये और विभिन्न उपायों द्वारा लोगों के हृदय में देश प्रेम की भावनायें भी भरनी चाहिए। देश भक्ति को सब महापुरुषों और धर्म-प्रचारकों ने मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ गुण बतलाया है। उससे वंचित रहना मानवता से पतित होना है।

यों तो जनतंत्र हमारे देश की प्राचीन परंपरा है, किंतु बीच में उसमें अनेक दोष उत्पन्न हुए। यह जनतंत्र अभी पनप ही रहा है, अतः आज इस बात की आवश्यकता अधिक है कि हमारे नागरिक अच्छे नागरिक हों, वे जागरूक हों, उन्हें अपने अधिकारों के साथ कर्तव्यों का भी बोध हो। ऐसी प्रतिज्ञाएँ सामाजिक सभाओं, मेलों तथा धार्मिक स्थानों में एकत्रित लोगों से कराई जानी चाहिए। ऐसे साहित्य का निर्माण होना चाहिए, जिससे हमारी राष्ट्रीयता की भावनाओं का विस्तार हो और उनके अनुसार नागरिक अपना जीवन बदलें तो राष्ट्र की शक्ति, सुरक्षा और समृद्धि में तेजी से प्रगति होगी। इस विकास में सहयोग देना प्रत्येक कुशल नागरिक का धर्म-कर्तव्य माना जाना चाहिए।

राष्ट्रीय चरित्र को सुविकसित किया जाए

चमड़ी की आँखों से देखने और चर्बी के मस्तिष्क से विचारने पर समृद्धि रुपये-पैसों के रूप में दिखाई पड़ती है; धन-दौलत, ठाट-बाट देखकर किसी की समृद्धि आँकी जाती है, शिक्षा और पद के अनुरूप उसका मूल्यांकन किया जाता है। थोड़ा बारीकी से, विवेक दृष्टि से यदि देखा जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि ये समृद्धि इनसे भिन्न है। मनुष्य का आंतरिक स्तर ही उसके वैभव का वास्तविक स्रोत होता है। धैर्य, साहस, पराक्रम, सूझ-बूझ, संतुलन एवं सज्जनता ही मनुष्य की वास्तविक संपत्ति है। उनके होने पर कोई निर्धन व्यक्ति भी उन महानताओं से संपन्न हो सकता है,

जिनके कारण उसे सच्चा और समग्र मनुष्य कहलाने का अधिकार मिलता है।

आंतरिक दुर्बलताओं और क्षुद्रताओं से भरा हुआ मनुष्य रुपये-पैसे वाला होते हुए भी तुच्छ, घृणित और नगण्य बना रहता है। अगणित धनी लोग ऐसे होते हैं, जो आंतरिक क्षुद्रता के कारण जीवन का लाभ लेने से कोसों दूर बने रहते हैं और रुपये-पैसों की गिनती गिनते रहने के गोरखधंधे में जिंदगी के दिन पूरे करके अंधकार के गर्त में विलीन हो जाते हैं। दूसरों की अपेक्षा उनके खाने-पहनने, रहने-सहने आदि के साधन अधिक सुविधाजनक एवं आकर्षक हो सकते हैं, पर इससे उनके व्यक्तित्त्व का स्तर कहाँ बढ़ा ? और व्यक्तित्वविहीन व्यक्ति अच्छा खाये या अच्छा पहने इसमें न उसका स्वयं का कुछ भला होता है और न उसके देश या समाज का। आंतरिक श्रेष्ठताओं से रहित व्यक्ति न अपने-आप संतुष्ट रह सकता है और न समाज में कोई स्थायी सम्मान मिल सकता है।

व्यक्ति की भाँति समाज या राष्ट्र की संपन्नता भी धन-दौलत के आधार पर नहीं आँकी जानी चाहिए। सुख-सुविधाओं के साधन बढ़ना अच्छी बात है, उससे देश की प्रजा को अपेक्षाकृत अधिक सुख-सुविधाएँ मिल सकती हैं, पर इससे उसकी तेजस्विता, सशक्तता एवं संपन्नता का कोई संबंध नहीं। ऊँची प्रगति तो उस देश के नागरिकों के चरित्र, साहस, पुरुषार्थ एवं पारस्परिक सहयोग पर निर्भर रहती है। इन गुणों का बाहुल्य रहने पर कोई निर्धन देश भी संसार में अपनी कीर्ति-ध्वजा फहरा सकता है और अपने स्वल्प-साधनों में सुखपूर्वक काम चला सकता है।

इसके विपरीत यदि उसके निवासी स्वार्थी, असहिष्णु, बेईमान, कायर और अकर्मण्य होंगे तो वहाँ जितना ही धन बढ़ेगा उतना ही भ्रष्टाचार फैलेगा, उतनी ही दुष्प्रवृत्तियाँ पनपेंगी। फलस्वरूप समस्याएँ भी उतनी ही अधिक उलझती चली जायेंगी। कल-कारखाने, व्यापार, उद्योग, कृषि, उत्पादन आदि के सहारे दौलत बढ़ सकती है, पर यदि उसका दुरुपयोग होने लगे तो

निश्चय ही वह संपन्नता उस गरीबी से बुरी सिद्ध होगी, जिससे लोग अपने थोड़े से धन का सदुपयोग कर काम चला लेते और सुखपूर्वक रहते थे।

हमारा उद्‌देश्य संपत्ति की महत्ता कम करना नहीं। वह तो बढ़ना ही चाहिए। उसे बढ़ाने के जो भी उचित उपाय संभव हों वे किये ही जाने चाहिए। पर साथ ही यह भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि बढ़ती हुई संपत्ति के साथ-साथ नागरिकों में सद्‌गुण भी बढ़ रहे हैं या नहीं ? यदि सम्पत्ति के साथ-साथ दोष-दुर्गुण भी बढ़ें तो उसका परिणाम भयानक ही हो सकता है। तब वह बढ़ी हुई संपत्ति बढ़ते हुए दुर्गुणों में आग पर घी डालने का कार्य करेगी। उसका प्रतिफल विकास नहीं-विनाश ही होगा।

राजनैतिक स्वाधीनता की उपलब्धि के लिए महात्मा गांधी ने देश की जनता में देश-भक्ति, त्याग, बलिदान, खादी आदि की रचनात्मक सत्प्रवृत्तियों को विकसित करने का महान् अनुष्ठान किया था। इस माध्यम से विकसित हुई राष्ट्रीय शक्ति में तेजस्विता उत्पन्न हुई, उसने अँग्रेजों को भारत छोड़ने के लिए विवश कर दिया। स्वराज्य मिलने के बाद वह ज्योति धूमिल पड़ गई और अब लगता है कि धीरे-धीरे वह कहीं बुझने तो नहीं जा रही है। हमारा सारा ध्यान कल-कारखाने, बाँध, नहर आदि बनाने, बढ़ाने में लग गया है। हमारी मान्यता यह हो चली है कि ये सुविधाएँ जितनी बढ़ती चलेगी उतनी ही राष्ट्रीय शक्ति बढ़ती चलेगी। चरित्र और मनोबल की बात जब-तब हम कहते-लिखते तो रहते हैं, पर वह सब एक सस्ता मनोरंजन मात्र रह गया है। जिन उपायों से जनता का मनोबल ऊँचा उठे, चरित्र विकसित हो, सत्प्रवृत्तियाँ पनपें, ऐसा मनोवैज्ञानिक वातावरण बनाने की ओर किसी का ध्यान नहीं है, जबकि राष्ट्रीय उत्थान का प्रधान तत्त्व यही है।

अपने देश की जो स्थिति आज है, उसके बारे में क्या किया जाए ? कहा उनसे जाय जो परिचित न हों। सरकारी अफसर, व्यापारी, नेता तथा समाज उच्च वर्ग के लोग अपना जो चरित्र जनता के सामने रख रहे हैं, उससे जनता का मनोबल उठा नहीं

वरन् गिरा है। लोग देश, समाज की बात सोचना छोड़कर अपनी व्यक्तिगत आपाधापी में लगे हैं। फलस्वरूप उलझनें घटती नहीं वरन् बढ़ती ही जा रही हैं।

सभी जानते हैं कि हमारा खाद्य संकट कृत्रिम है। यदि हमारा राष्ट्रीय चरित्र ऊँचा रहा होता तो इस विभीषिका का सामना ही न करना पड़ता। ५-७ प्रतिशत की जो कमी पड़ती हैं, उसे खेती में थोड़ा अधिक श्रम करके या खाद्य में थोड़ी बचत करके इतनी आसानी से हल कर लिया होता कि किसी को पता भी न चलता कि भारत में खाद्य-संकट नाम की भी कोई चीज है। इस देश के सुशिक्षित लोगों ने अपना एक-एक घंटा निरक्षरों को साक्षर बनाने में लगा दिया होता तो 'क्यूबा' की तरह हमने पाँच वर्ष में देश को पूर्णतया साक्षर बना लिया होता और स्वराज्य मिलने के १७ वर्ष बाद यहाँ एक निरक्षर देखने को न मिलता किंतु स्वतंत्रता प्राप्ति के ५४ वर्ष के बाद भी हम अधिकांशतः निरक्षर हैं। इसी प्रकार अन्य अगणित समस्याएँ जो उलझी पड़ी हैं। अपराध दिन-दिन बढ़ते चले जा रहे हैं, उनसे कबका छुटकारा मिल गया होता, बशर्ते कि हमने राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण करने की दिशा में भी कुछ सोचा या किया होता।

राष्ट्र के सामने आक्रमणकारी शत्रुओं से आत्म-रक्षा, खाद्य-संकट, महँगाई, भ्रष्टाचार, चोर बाजारी, बेकारी, गरीबी, अशिक्षा, बीमारी, अपराध वृद्धि, प्रांतवाद, भाषावाद, जातिवाद, विघटन, देशद्रोह, आंतरिक कलह, प्रजा में बढ़ता असंतोष आदि अगणित समस्याएँ मुँह बाँधे खड़ी हैं। इनका समाधान छुट-पुट उपायों से नहीं हो सकता। मुरझाये पेड़ के पत्ते सींचने से काम न चलेगा, उसकी जड़ को कुरेदना और सींचना पड़ेगा, तभी कोई ऐसा दल निकल सकना संभव है, जिससे हमारी विकास आकांक्षा वस्तुतः सफल हो सके।

हमें यह ध्यान रखना ही चाहिए कि मनुष्य जड़ नहीं है और न उसकी समृद्धि जड़-पदार्थों के अधिक इकट्ठा कर लेने पर संभव हो सकती है। मनुष्य चैतन्य आत्मा है और उसका आंतरिक

स्तर जब ऊँचा उठेगा—तभी उसकी सच्ची शक्ति एवं सामर्थ्य का विकास होगा और तभी उस आवश्यकता की पूर्ति होगी—जिसे समृद्धि के नाम से आज चारों ओर पुकारा जा रहा है। व्यक्ति सद्‍गुणी एवं चरित्रवान् हो तो वह शक्तिपुंज है और यदि वह निष्कृष्ट मनोभूमि का हो, तो वह अपना ही नहीं, समस्त राष्ट्र एवं समाज का भी अधःपतन करता है। हमें यह जान ही लेना चाहिए कि दौलत खेतों और कारखानों में नहीं, मनुष्य के अंतःकरण में उत्पन्न होती है और समग्र विकसित व्यक्तित्व ही दौलत के अक्षय भंडार सिद्ध होते हैं। गांधी, नेहरू, तिलक, मालवीय, दयानंद आदि युग पुरुषों के व्यक्तित्वों का मूल्य हजारों कारखानों से अधिक था।

संपत्ति उत्पन्न करने की पंचवर्षीय योजनाएँ बनें, सो ठीक हैं। अस्पताल, स्कूल, सड़क आदि का बनना भी अच्छी बात है, पर सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि राष्ट्रीय चरित्र को ऊँचा उठाया जाय। प्रत्येक नागरिक के मन-मानस में देशभक्ति, सहकारिता, उदारता, आत्मसंयम, नव-निर्माण एवं उच्च चरित्रवान् बनने की आकांक्षाएँ उत्पन्न हों। यह उत्पादन अन्य किसी भी उत्पादन से अधिक आवश्यक, उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण हैं। इस ओर उपेक्षा वृत्ति रखकर पिछले ५८ वर्षों में अर्थ उपार्जन का लक्ष्य रखा तो प्रतिफल सामने हैं, अर्थ भी मिला नहीं, भावना क्षेत्र में भी पिछड़ गये। चीन जैसे पिछड़े हुए और सहायताविहीन देश ने अपनी जनता का मनोबल उभारकर पिछले थोड़े दिनों में अपने स्वल्प साधनों से कितनी मजबूत स्थिति बना ली ? यदि हम चाहते तो उसकी तुलना में अनेक गुनी सुविधाएँ रहने के कारण पिछले ५८ वर्षों में कहीं से कहीं पहुँच गये होते और तब हमारी स्थिति ही कुछ दूसरी रही होती।

देर-सबेर में हमें करना यही पड़ेगा कि जनता का मनोबल ऊँचा उठाने के लिए, उसमें उच्च चरित्र, सामूहिकता, आत्म-संयम, पुरुषार्थ एवं सज्जनता उत्पन्न करने के लिए व्यापक अभियान आरंभ किया जाय। प्रत्येक विचारशील व्यक्ति का चिंतन एवं प्रयास उसी दिशा में चलना चाहिए। व्यक्ति और राष्ट्र की संपन्नता उसके

सुविकसित चरित्र पर ही आधारित रहती रही है। इतिहास का पन्ना-पन्ना इसका साक्षी है। हमारे भविष्य का उज्ज्वल बनना भी इसी बात पर निर्भर है कि जन-भावनाओं को श्रेष्ठता की दिशा में सुविकसित बनाने की कितनी सफलता मिली ?

हमारी आत्मा मर ही जायेगी क्या ?

विशाल भारत के प्राचीन गौरव की ओर दृष्टिपात करते हैं और अपने पुरखों के साथ अपनी तुलना करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि, हमें अपने पूर्व-पुरुषों के ज्ञान और आत्माभिमान का एक छोटा-सा टुकड़ा भी प्राप्त नहीं है। जगद्‌गुरु की उपाधि से विभूषित होने वाले भारतवर्ष को अब छोटे-छोटे देश भी ऊँगली दिखाते, हँसते, रौब जमाते हैं। यह सब देखकर हृदय में बड़ी तीव्र बेचैनी उठती है। ऋषियों की शक्ति उनके ज्ञान और गुरुत्व का ध्यान आता है, तो जी करता है कि किसी कोने में बैठकर अपने सारे आँसुओं से धोकर मन का बोझ हल्का कर लें। इस युग में पतन का जो दौर चल रहा है, अब उसे पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ ही समझना चाहिए। इसके आगे तो सर्वनाश के ही लक्षण प्रतीत होते हैं।

राष्ट्र की संपूर्ण विभूति, जिसके कारण यह परम समृद्ध, शक्तिशाली और तत्त्ववेत्ता था, उसका नाम है—धर्म। यह "धर्म" हमारे पूजा, पाठ तथा प्रथा-परंपराओं की मान्यताओं तक ही सीमित नहीं, वरन् वह मनुष्य जीवन से संबंधित संपूर्ण उत्कृष्टता का आधार है। जन्म से लेकर मृत्यु तक के सभी संस्कारों, गतिविधियों, दार्शनिकताओं, आचार-विचार, खान-पान, रहन-सहन, नैतिकता आदि का उसमें समावेश है। वह जीवन से संबंधित किसी भी प्रश्न को छोड़ता नहीं, इसलिए धर्म उतना ही विशाल है जितना कि यह विराट् जगत्। उसे संकीर्णताओं में नहीं बाँधा जा सकता। धर्म किसी व्यक्ति का नहीं, उसका कोई नाम भी नहीं, वस्तुतः सनातन सत्य ही धर्म है। उन नियमों की व्यवस्था इतनी प्रायोगिक है कि उसमें प्राणि मात्र का हित समाया हुआ है।

जब तक यह धर्म हमारे जीवन का प्रमुख अंग बना रहा तब तक इस देश में किसी तरह की शिथिलता या दुर्व्यवस्था उत्पन्न नहीं हुई। किंतु नियमों की कठोरता में जब मनमानी बरती जाने लगी और उसमें संकीर्णताओं का समावेश होने लगा तो धर्म से प्राप्त होने वाले गौरव का भी लोप होता चला गया और यह देश एक-एक करके संपूर्ण क्षेत्रों में हारता चला गया।

यों कहने को तो धर्म की शाखा-प्रशाखाएँ आज भी किसी तरह कम नहीं हैं। चारों ओर धार्मिक गतिविधियाँ फैली दिखाई देती हैं। धार्मिक ट्रस्ट, देवालय, धर्म सभायें, योग-मंदिर, सत्संग कुटीर आदि न जाने कितनी संस्थायें, संत और पुजारी धर्म को उन्नत किये रहने का दावा करते हैं, किंतु इन संपूर्ण प्रवृत्तियों के मूल में जाकर देखें तो उसमें भी स्वार्थ, मान, दंभ, पाप और संकीर्णता की भावनायें ही अंतर्हित है। यह देखकर लोगों को धर्म से घृणा होनी ही थी, वही हुआ भी। मनुष्य जीवन को उत्कृष्ट बनाने वाला धर्म मनोरंजन, स्वार्थपूर्ति और छल का साधन मात्र बनकर रह गया।

धर्म के संबंध में बड़ी विभिन्नता देखने में आती है। अनेक लोग धर्माचरण करना इसलिए जरूरी समझते हैं कि उसने एक सामाजिक रीति-रिवाज का सा रूप ग्रहण कर लिया है। इससे चतुर लोगों को अपनी स्वार्थ सिद्धि में और भी सफलता मिलती है, फलस्वरूप धर्म की यथार्थ भावनाओं में, तप, त्याग और जीवन निर्माण के सद्उद्देश्यों में गिरावट ही होती जा रही है।

यह हमारे धार्मिक पतन का एक कारण अपने ही देश और जाति में पाई जाने वाली संकीर्णता है। जब किसी जाति के जीवन में कलुषता बढ़ जाती है, तो उसका सारा आंतरिक ढाँचा ही लड़खड़ा जाता है। पाप और पाखंड का समावेश इतना अधिक हुआ कि आध्यात्मिक सद्गुणों का लगभग बहिष्कार-सा कर दिया गया। लोग हल्के-फुल्के कर्मकांड पूरे करने मात्र से स्वर्ग मुक्ति की उपलब्धि सोचने लगे और आत्म-संयम जैसे कष्टसाध्य कार्य से मुँह मोड़ लिया गया। दुर्गुणों के बढ़ने से दुर्व्यवहार बढ़ा और सब तरफ ईर्ष्या, द्वेष, कष्ट, कलह, निर्धनता, पाशविकता का ही

बोलबाला बढ़ता गया। यह स्थिति अब उस स्थान पर पहुँच गई है, जहाँ रुककर हमें यह सोचने को विवश होना पड़ रहा है कि—'हमारी आत्मा मर ही जायेगी क्या ?' क्या भारतवर्ष अपने अतुलनीय प्राचीन गौरव को फिर न पा सकेगा ? पड़ौसी संसार के लोगों को समुन्नत होते देखकर यह दर्द और भी बढ़ता है और एक तेज हुंकार के साथ राष्ट्र की सामाजिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक प्रवृत्तियों को बदल डालने को जी चाहता है। राष्ट्र की अंतरात्मा पूर्व धरोहर पाने को एक प्रकार से अकुला ही रही है।

हमें यह मानकर चलना होगा कि रक्षा करने पर भी जो न तो सुख की वृद्धि करता है और न आपत्तियों से बचाव करता है, वह धर्म नहीं है। फिर उसमें अपना कितना ही तात्कालिक हित क्यों न दिखाई पड़ता हो। यदि हम वास्तविक धर्म की उपासना करते होते तो आज पतित, पराधीन, क्षुधार्थ, बीमार, बेकार और तरह-तरह से दीन-हीन न होते। धर्म के साधक की यह दुर्गति न होती, जो अब भुगतनी पड़ रही है। अपनी उन्नति, अपना विकास और वैभव की प्राप्ति—अब इस भूल को सुधारने से ही मिल सकती है। धर्म की शरण में जाने से सब प्रकार की आधि-व्याधि से छुटकारा मिल सकता है।

धर्म के द्वारा "परलोक में सुख" मिलने की बात सच हो सकती है, पर इस मान्यता को नित्य-व्यवहार में अविवेकपूर्वक चलाये जाने के कारण ही उसमें इतनी अधिक बुराइयाँ आई हैं। रूढ़िवादिता, अंधविश्वास, अनैतिकता आदि को प्रोत्साहन देने में यही मूल भावना कार्य कर रही हैं। उसमें उपरोक्त मान्यता का बहुत बड़ा हाथ है, पर अब यह निश्चित हो चुका है कि परलोक में यदि सुख मिल सकता है, तो उसका लाभ यहाँ क्यों नहीं मिल सकता ? धर्म के द्वारा हमारा यह जीवन भी तो सुखमय होना चाहिए।

प्रश्न जितना गंभीर है, उतना ही उपयुक्त भी है; किंतु इसके लिए अपने व्यवहार, विचार और आचार की उत्कृष्टता को भी परखना पड़ेगा। धर्म का नित्य और अपरिवर्तनशील नीति-निर्देशक

तत्त्व है—सद्गुण और सदाचार। इन्हीं पर धर्म का विशाल गढ़ निर्मित हुआ है। उपासना, सत्संग, स्वाध्याय, दान, तीर्थाटन आदि का आविर्भाव इन मूल प्रवृत्तियों को ही विकसित करने के लिए किया गया है; पर यह आवश्यकतायें ही इन दिनों नहीं हैं, इसीलिए हमारे जातीय जीवन की इतनी अवनति हुई है। अपनी दुर्गति का मूल कारण यही है कि हम सद्विचार और सदाचरण के महत्त्व को भूलते जा रहे हैं। इस लोक का मनुष्य दूसरे मनुष्य के साथ भलाई का व्यवहार नहीं करेगा तो पारलौकिक जीवन में उसे सुख तथा शांति की उपलब्धि हो जायेगी, यह निश्चित नहीं कहा जा सकता। धर्म हमारे इस जीवन में ही शक्ति और सामर्थ्य पैदा कर देने की क्षमता रखता है, पर उसे हमारे व्यवहार में, विचार में और प्रत्येक गतिविधियों में सुंदर रूप में प्रतिष्ठित करना पड़ेगा। जिस दिन से इस देश की सदाचरण वाली वृत्ति का जागरण होने लगेंगी, उस दिन से ही यहाँ अतीत की समृद्धियाँ पुनः लौटने लगेंगी और हम इसी धरती में ही सुख और संपत्ति का अधिकार प्राप्त कर सकेंगे। इस महान् जागरण के लिए अब हमें उठना ही चाहिए। आत्म-हनन की परिपूर्ण प्रवंचना से हम बच सकें तो इसी धरती में स्वर्ग जैसा सुखोपभोग कर सकते हैं। आत्मा को दुर्गुणों द्वारा मार डालने से तो यह अवनति ही सुनिश्चित है, इसे आज इस देश में कष्टपूर्वक भोगा जा रहा है।

प्रगति की दिशा में सही प्रयत्न

सभी क्षेत्रों में आज यह अनुभव किया जा रहा है कि एक ओर जितने प्रयत्न उन्नति के लिये किये जा रहे हैं, उतना ही दूसरी ओर अवनति का द्वार प्रशस्त हो रहा है। आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिये उद्योग-धंधे बढ़ाये जा रहे हैं, कर्मचारियों का वेतन बढ़ाने की व्यवस्था की जा रही है, शिक्षा की प्रगति के लिये स्कूल-कॉलेजों की संख्या बढ़ रही है, चिकित्सा के लिये अस्पतालों और डॉक्टरों की संख्या वृद्धि की जा रही है, अपराध रोकने के लिये कानून, पुलिस और अदालत पर अधिक ध्यान दिया जा रहा

है, यातायात की सुविधा बढ़ाने के लिये रेल, मोटर, जहाज, स्कूटर, सड़कें आदि के निर्माण का विशाल कार्यक्रम चल रहा है। मनोरंजन के लिये सिनेमा, सर्कस, नाटक, खेल-कूद, पार्क आदि का विकास हो रहा है। इन्हें देखते हुए सहज ही यह अनुभव होता है कि प्रगति के इन भारी साधनों द्वारा मनुष्य जाति की सुख-सुविधाओं में अवश्य ही वृद्धि होगी।

लोकशिक्षण के प्रयत्न भी स्वल्प नहीं हैं। सरकार अपनी योजनाओं और सफलताओं से जनता को परिचित कराने के लिये भारी व्यय करके प्रदर्शनियाँ लगाती हैं, सिनेमा दिखाती है, ग्राम सेवक, ब्लाक-कर्मचारी, कल्याण-विभाग के कार्यकर्ता भारी संख्या में काम कर रहे हैं। कृषि, स्वास्थ्य, सहयोग, शिक्षा आदि का प्रशिक्षण करने के लिए बड़े-बड़े विभाग बने हुए हैं और उनमें प्रचुर धन एवं जनशक्ति का उपयोग होता है। रेडियो द्वारा देशभक्ति, सदाचार, स्वास्थ्य आदि के अनेक प्रकार के कार्यक्रम प्रसारित होते रहते हैं। राजनेता, मंत्री आदि के भाषणों की आये दिन धूम मची रहती है। राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र के कार्यकर्ता अपने-अपने ढंग से निरंतर प्रवचन करते रहते हैं। उनके विशाल प्रयत्नों को देखते हुये यह अनुमान लगाया जा सकता है कि जनता को अवश्य ही उच्च भावनाओं से ओत-प्रोत, कर्तव्यपरायण, आदर्श प्रेमी और सुखी बन जाना चाहिये।

विकास और सुधार का, शिक्षा और समृद्धि का, चिकित्सा और सुविधाओं का जितना विशाल आयोजन आज हो रहा है उतना संसार के इतिहास में पहले कभी नहीं हुआ था। इसे देखते हुए जहाँ एक ओर आशा बँधती है, वहाँ दूसरी ओर देखते हैं तो निराशा से चित्त क्षुब्ध होने लगता है। इतनी चेष्टा करने पर भी स्थिति हर दिशा में बिगड़ती ही जा रही है। शारीरिक दृष्टि से लोग अपने को अशक्त, दुर्बल और रोगी ही अनुभव करते हैं। ऐसे भाग्यशाली विरले ही मिलेंगे, जो अपने को पूर्ण निरोग होने का भरोसा कर सकें। श्रद्धा, विश्वास और आत्मीयता का गृहस्थ-जीवन कोई विरले ही बिता पा रहे हैं। दांपत्य और पारिवारिक जीवन जहाँ

भी देखिये वहाँ विषाक्त बना दिखाई देता है। आमदनी से खर्च सबका बढ़ा हुआ है। सभी अपने को गरीब, अभावग्रस्त अनुभव करते हैं। शिक्षितों को नौकरी न मिलने पर या ठीक वेतन न मिलने की शिकायत रहती है। गुंडागर्दी और अपराधों की तो बाढ़ ही आ गई है, जिससे हर व्यक्ति सदैव सशंकित बना रहता है। सरकारी क्षेत्रों में रिश्वतखोरी और लापरवाही बेहिसाब बढ़ गई है, जिससे न्याय और अधिकारों का प्राप्त होना दिन-दिन महँगा और कष्टसाध्य बनता चला जा रहा है। सार्वजनिक संस्थाओं के पोलखाते जब सामने आते हैं, तब और भी अधिक निराशा होती है। जिनकी स्थापना लोगों को उच्च आदर्श सिखाने के लिये की गई हो, उनके संचालक और पदाधिकारी ही यदि आदर्शहीनता का परिचय देने लगें, तो फिर कौन उनके उपदेशों को सुनेगा और कौन उन पर आचरण करेगा ?

धार्मिक अनुष्ठानों की आये दिन धूम रहती है। कथा, हवन, कीर्तन, सम्मेलन रोज ही कहीं-न-कहीं होते रहते हैं। इन्हें देखते हुए यही जान पड़ता है कि धर्म का विस्तार हो रहा है। साधु-संतों की संस्था तक पहुँच जाने में एक सामान्य मनुष्य यह चाहता है कि उनके द्वारा जनता में ज्ञानवृद्धि और धर्म की जागृति होती ही होगी, पर जब वास्तविक परिणाम का पता लगाया जाता है तो आँखों के आगे अंधेरा छा जाता है और यही प्रतीत होता है कि यहाँ तो मेड़ ही खेत को खाये जा रही है।

प्रगति पर बाह्य आवरण दिन-दिन बहुत बढ़ता चला जा रहा है, आडंबर का घटाटोप बँध रहा है, पर भीतर सब कुछ खोखला है। मनुष्य का चरित्र, दृष्टिकोण एवं आदर्श पतित होने पर सभी ऊपरी उपचार निरर्थक सिद्ध होते हैं। रक्त-विकार से रुग्ण शरीर में जगह-जगह निकलते रहने वाले फोड़ों पर मरहम लगा देने मात्र से कोई स्थायी हल नहीं निकल सकता। जड़ के सींचे बिना केवल पत्तों पर छिड़काव कर देने से पेड़ की हरियाली कब तक बनी रहेगी ?

संसार में दिन-दिन बढ़ती जाने वाली उलझनों का एक मात्र कारण मनुष्य के आंतरिक स्तर, चरित्र, दृष्टिकोण एवं आदर्श का अधोगामी होना है। इस सुधार के बिना अन्य सारे प्रयत्न निरर्थक हैं। बढ़ा हुआ धन, बढ़े हुए साधन, बढ़ी हुई सुविधाएँ कुमार्गगामी व्यक्ति को और भी अधिक दुष्ट बनायेंगी। इन बढ़े हुए साधनों का उपयोग वह विलासिता, स्वार्थपरता, अहंकार की पूर्ति और दूसरों के उत्पीड़न में ही करेगा। असंयमी मनुष्य को कभी रोक-शोक से छुटकारा नहीं मिल सकता, भले ही उसे स्वास्थ्य-सुधार के कैसे ही अच्छे अवसर क्यों न मिलते रहें ?

कठिनाइयाँ, अभावों और विपत्तियों की जड़ मनुष्य के भीतर रहती है। जितना प्रयत्न संसार को सुखी और समृद्ध बनाने के लिये किया जा रहा है, यदि उसका सौवाँ भाग भी मनुष्यों के आंतरिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिये किया जाता तो आज स्थिति कुछ और ही होती। जब तक हम वास्तविक दशा को न समझेगें तब तक असफलता और निराशा के अतिरिक्त और क्या हाथ लगने वाला है ? जिन लोगों के कंधों पर जन-सेवा का भार है, वे ही यदि अपने कर्तव्य की उपेक्षा करके जैसे बने वैसे स्वार्थ साधने की ठान-ठान लें तो फिर उनके दिखावटी प्रयत्नों से किसी शुभ परिणाम की आशा कैसे की जा सकती है ?

बाहरी आडंबरों के बढ़ने से किसी समस्या का हल न होगा। मानव-जीवन की दिन-दिन बढ़ने वाली समस्त आपत्तियों का समाधान करने का केवल एक ही मार्ग है कि मनुष्य के गुण, कर्म, स्वभाव का स्तर ऊँचा उठाया जाय और उसकी भावना, श्रद्धा तथा आकांक्षाओं को धर्म एवं सदाचार से नियंत्रित रखा जाय। जब मनुष्य अपने आत्म गौरव, कर्तव्य और लक्ष्य को भली प्रकार अनुभव कर सकेगा तभी प्रवृत्ति से ऊँचा उठकर मनुष्य के योग्य यशस्वी पथ का पथिक बन सकता है।

रोग का ठीक निदान हो जाने पर चिकित्सा संबंधी आधी कठिनाई हल हो जाती है। पेट में कब्ज रहने पर अनेक रोग उठ खड़े होते हैं, स्वभाव में क्रोध की मात्रा बढ़ जाने से अनेक विरोधी

तथा शत्रु पैदा हो जाते हैं। इसी प्रकार जिस राष्ट्र की जनता स्वार्थी, विलासी, कायर, आलसी और दुर्गुणी हो जाती है, वहाँ अगणित प्रकार के शोक-संताप बढ़ने लगते हैं। बाहरी उपचारों से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। रोग के कारणों को हटाने से ही व्यथा दूर होती है। व्यक्तियों का आंतरिक स्तर ऊँचा उठाने पर ही पतन का प्रत्येक दृश्य उन्नति में बदलने लगता है।

विश्वशांति की स्थिति उत्पन्न करने का कोई प्रयत्न तभी सफल होगा, जब व्यक्तियों की भावनाओं को ऊँचा उठाने को सर्वोपरि महत्त्व की बात मानकर योजना बनाई जाय। मुझे युग-निर्माण योजना में ऐसा ही सार्थक प्रयत्न प्रतीत होता है। उसके संयोजकों ने समस्या की जड़ ढूँढ़ने का प्रयत्न किया है और रोग के सही निदान के अनुरूप चिकित्सा आरंभ की है। सही दिशा में उठाये हुए कदम ही सही परिणाम उत्पन्न कर सकते हैं। यदि इन प्रयत्नों को प्रोत्साहन मिला तो विश्वासपूर्वक यह आशा की जा सकती है कि राष्ट्रव्यापी अशांति की समस्या का हल निकलेगा और भारतवर्ष का भविष्य पुनः उज्ज्वल बनेगा।

राष्ट्रीय चरित्र निर्माण में आपका योगदान

आज चारों ओर चारित्रिक और सामाजिक दृष्टि से क्षोभ और निराशा का वातावरण दिखाई देता है। हम और आप सभी इस वातावरण को बदलना चाहते हैं, परंतु इस कार्य में अपने को असमर्थ पाते हैं। इन समस्त दुःखद परिस्थितियों के लिए हम सरकार को, समाज को और अन्य जनों को दोष देते हैं, हम भूलकर भी अपने दिल को नहीं खोजते। हम कभी भी यह नहीं सोचते कि इन दूषित परिस्थितियों को उत्पन्न करने में हमारा क्या योगदान है ? यदि एक बार आप अपने विचारों और कार्यों का मूल्यांकन करने लगें, तो आपकी समझ में तुरंत आ जायेगा कि, दूसरों को दोष देना व्यर्थ है। स्वयं अपने में कुछ दोष हैं, उन्हें यदि निकाल दिया जाए तो आप बहुत कुछ कर सकते हैं। यदि आप अपने कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने लगें, तो आप

एक सही दिशा की ओर चलने लगेंगे। यह न सोचें कि 'अकेला चना क्या भाड़ फोड़ेगा ?' बहुत से लोग अपना काम इसलिए ठीक से नहीं करते कि वे अन्य कर्तव्यहीन जनों के कृत्यों को देखकर सोचते हैं कि जब सभी लोग ईमानदारी से काम नहीं करते, तो हमारी ईमानदारी से क्या लाभ होगा ?

आप यह निश्चित रूप से जान लें कि आपकी अकेली ईमानदारी में बहुत बड़ा बल है। हाँ, वह ईमानदारी पत्थर की चट्टान की तरह दृढ़ और अभेद्य होनी चाहिए। एक व्यक्ति में कितनी शक्ति होती है, इसे समझना है तो राम, कृष्ण, गौतम, ईसा, मोहम्मद और गांधी की शक्ति को देखिए। अपने चारों ओर की प्रतिकूल परिस्थितियों की परवाह न करके ये लोग अकेले ईमानदारी के साथ कर्तव्यपरायण हुए, फलस्वरूप उनका अनुगमन करने वाले अनेक बन गये, सारी दुनिया बदल गयी। तालाब के निश्चल जल में एक ही कंकड़ फेंका जाता है, परंतु उसके प्रभाव से उठने वाली असंख्य तरंगें, जल की सतह पर उठने लगती हैं। उसी प्रकार अकेले आपके ईमानदार होने से, घर में पास-पड़ौस में, व्यवसाय में और सभी क्षेत्रों में जहाँ आप प्रवेश करते हैं वहीं, कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य होता है।

आप अपने घर के एक सदस्य हैं। यदि परिवार में आप सबसे बड़े हैं, आप उस छोटे से समाज के 'प्रमुख' या 'प्रधान' हैं, तो आप बहुत कुछ कर सकते हैं। अपने आश्रितजनों के साथ निष्पक्ष और निष्कपट व्यवहार करके आप सबका जीवन सुखी बना सकते हैं। सबके लिए उचित साधन जुटाकर सबको उन्नति करने का समान अवसर दे सकते हैं। बच्चों और युवकों को (जो आपके परिवार के हैं) उनकी शिक्षा के विषय में उचित परामर्श और पथ प्रदर्शन दे सकते हैं। परिवार एक प्रकार की नर्सरी है। जैसे नर्सरी में फूलों के पौधे उगाये जाते हैं और बड़े होने पर वही पौधे बंगलों और उद्यानों की शोभा बढ़ाते हैं, उसी प्रकार परिवार में जो बच्चे जन्म लेते हैं, पलते हैं और शिक्षा पाकर बड़े होते हैं, वही आगे चलकर देश के उत्तम नागरिक बनते हैं, जिनकी कार्य कुशलता

ईमानदारी और कर्तव्यपालन पर देश का भाग्य निर्भर होता है। सच पूछिये तो आप इस प्रकार राष्ट्र की शानदार इमारत की ईंट तैयार करते हैं।

आज हमारे परिवारों की दशा बहुत गिरी हुई है। गरीबी और उत्तम सांस्कृतिक वातावरण की कमी के कारण, पारिवारिक जीवन दूषित होता चला जा रहा है। उसी के कारण मनुष्य में स्वार्थपरता, व्यक्तिगत सुख की होड़ के भाव प्रबल हो जाते हैं, जिससे सामाजिक जीवन को क्षति पहुँचती है। इन दूषित प्रवृत्तियों को नष्ट करने के लिए कानून नहीं बनाये जा सकते और यदि बनाये जा सकते और यदि बनाये भी जायें, तो इससे कोई लाभ नहीं होगा। हम देखते हैं कि हमारे देश में कानून बनते हैं, परंतु उनसे जो सुधार होने चाहिए, नहीं हो पाते। एक ओर कानून बनता है और दूसरी ओर कानून का उल्लंघन करने के उपाय लोग निकाल लेते हैं। राष्ट्रीय चरित्र कानूनों की सहायता से नहीं सुधारा जा सकता। उसका बनाना हमारे हाथ में है। यदि हर एक व्यक्ति अपना सुधार कर ले तो सारा देश अपने आप सुधर जायगा।

सामाजिक जीवन आदान-प्रदान की नींव पर खड़ा होता है। हमको दूसरों से सुख-सुविधाएँ मिलती हैं और हम दूसरों को सुख-सुविधाएँ पहुँचाते हैं, तभी सामाजिक जीवन कायदे से चलता है और सुख की वृद्धि होती है। सामाजिक जीवन के क्रम को भंग न होने देना हमारे हाथ की बात है। इस समय एक बहुत बड़ी कठिनाई यह उपस्थित है कि हम और आप तमाम सुख-सुविधाएँ पाना चाहते हैं, परंतु दूसरों को अपनी ओर से सुख-सुविधाएँ देना नहीं चाहते। हम 'आदान' चाहते हैं, परंतु 'प्रदान' नहीं। जहाँ प्रदान नहीं होता, वहाँ आदान केवल थोड़े दिन चलता है। अपनी ओर से प्रदान का क्रम भंग होते ही, दूसरे लोगों का आदान नहीं प्राप्त होगा। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक जीवन की विकास और विनाश की कुंजी आपके ही हाथ में है। आप उसका प्रयोग करके बहुत कुछ समाज का उपकार कर सकते हैं। समाज

के प्रति आपका जो भी 'देय' है, निष्ठापूर्वक दीजिए, आपका जो भी उत्तरदायित्व है, उसे पूरा करिए।

इसी प्रकार समाज में व्याप्त अनेक दोषों को नष्ट कर सकते हैं। होता यह है कि आप अनेक सामाजिक बुराइयों को या तो स्वार्थवश दूर नहीं करते या कायरतावश उनकी ओर से उदासीन रहते हैं। आपके पास-पड़ौस में कोई दुष्ट तथा अपराधी-प्रवृत्ति का व्यक्ति रहता है, तो आप साहसपूर्वक उसका विरोध नहीं करते और कभी-कभी तो स्वार्थवश उसके साथ सहयोग करने लगते हैं। ऐसी दशा में अपराध का उन्मूलन नहीं हो सकता। वास्तव में अपराधों के बढ़ाने में आप सहायक होते हैं। आपके पास-पड़ौस में यदि गंदगी है, छूत की बीमारियाँ फैलती हैं, फिर भी आप सफाई की ओर न तो स्वयं ध्यान देते हैं और न दूसरों का ध्यान आकर्षित करते हैं। हमारे देश में अभी काफी अज्ञानता है। पास-पड़ौस में यदि आप पढ़े-लिखे हैं, तो निरक्षर जनों तक कुछ ज्ञान का प्रकाश फैलाइए। मुहल्लों में सबेरे म्यूनिसपैलटी के कर्मचारी गलियों की सफाई कर जाते हैं, नालियाँ धो दी जाती हैं, परंतु आपके घर की स्त्रियाँ और पास-पड़ौस के अशिक्षितजन अपने बच्चों से नालियों में मल-मूत्र त्याग कराते हैं, घर का तमाम कूड़ा-कचरा बाहर गली में ढेर कर देते हैं। आपके पास में सार्वजनिक नल लगा है। वह खुला पड़ा रहता है और पानी नष्ट हुआ करता है, इससे राष्ट्रीय धन का अपव्यय होता है, साथ ही नमी फैलती है। यह सब छोटी-छोटी बातें बड़े महत्त्व की हैं। केवल इन छोटी-मोटी बातों की ओर ध्यान न देने से राष्ट्र के अपार धन की क्षति होती है।

अब आप अपने व्यवसाय की बात लीजिए। हमारे देश में प्रायः व्यवसाय के प्रति लोगों का दृष्टिकोण स्वस्थ नहीं है। आप चाहे नौकरी करें, मजदूरी या दुकानदारी, उसमें अधिक से अधिक लाभ उठाने की चेष्टा करते हैं। आप यह भूल जाते हैं कि अनुचित मुनाफागिरी के कारण आपके व्यवसाय से लाभ उठाने वाले उपभोक्ताओं पर क्या प्रभाव पड़ता है ? हम सभी युद्धकालीन

'काला बाजार' से परिचित हैं। व्यापारी वर्ग अपनी वस्तुओं को बेचकर उचित नफा उठाने के साथ-साथ और भी अधिक अनुचित लाभ लेना चाहता है। व्यापारी को अपने परिश्रम का उचित लाभ उठाने का हक है, परंतु दूसरों की आवश्यकताओं का ध्यान रखना भी उसका कर्तव्य है।

यदि आप सरकारी कर्मचारी हैं, तो आपको अपने पद के अनुकूल कर्तव्य का निर्वाह करना है। अधिकारी और कर्मचारी वर्ग भी अपने पेशे में ईमानदार नहीं रहे। मुनाफाखोरी करने वालों के प्रलोभनों से उन्हें बचना चाहिये। अधिकारी होने के नाते, वे उपभोक्ता जनता के संरक्षक हैं। स्वार्थ के लिये न्याय की हत्या करके किन्हीं को अनुचित अवसर प्रदान करना उनके लिए निश्चित रूप से लज्जास्पद है। मजदूर वर्ग को भी अपने पेशे में ईमानदार रहना चाहिए। यदि आप मजदूर हैं, तो आप जिस कारखाने में काम करते हैं, वहाँ अपने काम की उत्तमता बढ़ावें, उत्पादन की मात्रा बढ़ावें। ऐसा करने से ही राष्ट्रीय आय बढ़ेगी और आपकी भी आय साथ में बढ़ेगी।

उपर्युक्त कुछ उदाहरणों से स्पष्ट है कि देश और समाज का भविष्य हमारे-आपके हाथों में हैं। हम अनेक बुराइयों को दूर करने का बोझ स्वयं स्वीकार करें और सरकार का मुँह न ताकें। तभी उन्नति की दिशा में हम अग्रसर हो सकते हैं।

जीवन का उजाला पक्ष भी प्रकाश में आए

समाचार पत्रों में जीवन का अंधेरा पक्ष बड़ी प्रमुखता से छपता है। संपादक गण मोटे-मोटे शीर्षक देकर उसकी ओर पाठकों का ध्यान खींचते हैं। आपकी दृष्टि से ये शीर्षक अनेक बार गुजरे होंगे। निराश प्रेमी ने प्रेमिका के छुरा भोंक दिया, पत्नी ने प्रेमी से मिलकर पति को जहर दे दिया अथवा मरवा दिया, पति ने पत्नी की नाक काट ली या हत्या कर दी, क्योंकि उसे पत्नी के चरित्र पर संदेह हो गया था और पुलिस के सामने आत्म-समर्पण कर दिया, डाकुओं के एक दल ने गाँव पर हमला किया और

१६ व्यक्तियों को जिनमें स्त्रियाँ और बच्चे भी थे, गोली से उड़ा दिया और लूट-पाट करके चलते बने। एक दिन सबेरे ८५ वर्षीय विधवा अपने मकान में खून से लथ-पथ पाई गई—ऐसा लगता था कि किसी ने तेज हथियार से उसकी हत्या की है और उसकी संपत्ति का अपहरण किया है, इसी मुहल्ले में कुछ महीनों पहले एक और विधवा का कत्ल हुआ था और उसकी दो-तीन लाख की संपदा लूट ली गई थी। अभी कुछ दिन पहले एक संसद-सदस्य के निवास स्थान से राजधानी में ८६ हजार रुपया कोई चुरा ले गया। सामान्य धोखे-धड़ी की तो अनेक घटनाएँ होती रहती हैं। जाली हस्ताक्षर बनाकर बैंकों से दूसरों का रुपया निकलवाने का सफल-असफल प्रयास किया जाता है। एक समाजसेवी संस्था की बात है—किसी ने अधिकारियों के जाली हस्ताक्षर बनाकर ३३ या ३४ हजार रुपया निकलवा लिया और आज तक अपराधी का पता नहीं चला। नोट और आभूषण दुगने कराने के लोभ में अनेक ठगे जाते हैं। बलात्कार और अपहरण के किस्से भी कम नहीं होते। मित्र या निकट रिश्तेदार को एक बार रुपया उधार दीजिए और उससे दुश्मनी मोल ले लीजिए। रुपया वापस मिलने की आशा तो आप को छोड़ ही देनी चाहिए।

समाज के इस कृष्ण पक्ष का दर्शन करके मन वितृष्णा से भर जाता है। प्रश्न उठता है कि क्या यह दुनिया रहने लायक रह गई है, जिसमें लूट-पाट, मार-काट, डकैती, चोरी, ठगी और जालसाजी, बलात्कार और अपहरण तथा विश्वासघात का बोलबाला है ? लोग अक्सर शिकायत करते है कि बड़ा खराब जमाना आ गया है, जिसमें किसी का विश्वास नहीं किया जा सकता। भारतीय दर्शन और अध्यात्म क्या आज के सामाजिक जीवन को बिल्कुल स्पर्श नहीं करता ? उपनिषद का मंत्र है—'किसी के धन की इच्छा मत करो, इस जगत् में जो कुछ है, वह ईश्वर की संपदा है और तुम्हें जो कुछ प्राप्त है, उसका एक अंश त्याग करके उपभोग करो।" क्या लोग उपनिषद के इस मंत्र पर आचरण करते हैं ? आधुनिक समाजशास्त्री कहते हैं कि,

आर्थिक विषमता अनेक अपराधों को जन्म देती है। गांधी जी भी कहते थे कि आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह जो करता है, वह चोरी करता है। जब एक जगह धन का पहाड़ खड़ा होगा तब दूसरी जगह गड्ढा कैसे नहीं बनेगा ? जब कहीं वैभव का प्रदर्शन होगा तब दूसरे के मन में जो अभावग्रस्त है, उस वैभव को छीनने की इच्छा क्यों जाग्रत् नहीं होगी ?

किंतु जीवन में अंधेरा है तो उजाला भी कम नहीं है। फर्क इतना ही है कि उजाले को हम स्वाभाविक समझते हैं और उसे नजरअंदाज कर देते हैं, जीवन में जो अस्वाभाविक और कृत्रिम है, उसे खूब महत्त्व देते हैं और संतुलन खो देते हैं। अगर कुत्ते ने आदमी को काट लिया तो यह खबर नहीं बनती, किंतु अगर कोई आदमीं कुत्ते को काट ले तो समाचार-पत्र का मोटा शीर्षक बन जायेगा। किंतु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि उजाला अंधेरे को दूर करता है और जीवन को जीने लायक बनाता है। फिर यह दुनिया उतनी खराब नजर नहीं आती और उसमें रस बना रहता है। प्रकाश की सुनहरी किरण किसे अच्छी नहीं लगती ? बसंत की बयार किसे स्फूर्ति नहीं देती ? अतः आइए, हम उजाले की उपासना करें, जो उजले-पथ के पथिक हैं, उनका अनुसरण करें और मनुष्य जीवन को धन्य करें।

गोरखपुर में उत्तर-पूर्वी रेलवे का एक केंद्रीय अस्पताल है। उसमें एक सर्जन काम करते थे। उनका शुभ नाम था डॉ० सुधीर गोपाल झिगरन। उन्होंने एक दिन पहले, एक रोगी का आपरेशन किया था। दूसरे दिन रोगी को रक्त देने के आवश्यकता महसूस हुई और डॉ० महोदय स्वयं ही अपना रक्त देने को तैयार हो गये। संयोग की बात कि जब वह रक्त-दान कर रहे थे तथा नसों में वायु गतिरोध हो गया और वह हमेशा के लिये मौत की गोद में सो गए। ऐसा उदाहरण बिरला ही मिलेगा कि कोई डॉक्टर रोगी के लिए स्वयं अपना रक्त देने को तैयार हुआ हो। रोगियों के प्रति डॉक्टरों की उपेक्षा और हृदयहीनता के अनेक किस्से प्रकाश में आते हैं, किंतु डॉ० सुधीर ने एक रोगी के लिए अपने प्राणों का

उत्सर्ग कर दिया और दूसरों के लिए जीवनदान करने का एक सुनहरा प्रकाश स्तंभ निर्मित किया। फिर यह रोगी कोई बड़ा आदमी न था। सबसे नीची यानी चतुर्थ श्रेणी का एक साधारण खलासी था। किंतु मानवता के लिए कौन छोटा और कौन बड़ा ? समाज को ऐसे डॉक्टर की पूजा करनी चाहिए। वह अपने पीछे पत्नी, दो पुत्रियाँ और पुत्र छोड़ गये हैं। उनका दायित्व समाज को इस तरह उठा लेना चाहिए कि उन्हें अपने संरक्षक का अभाव न खटकने पाए।

हमें याद आती है पालम हवाई अड्डे की वह घटना, जब कलकत्ता से आने वाला डेढ़ करोड़ की लागत का कैरावेल वायुयान दुर्घटनाग्रस्त हो गया था। यान में उतरते-उतरते आग लग गई और उस पर सवार ७५ यात्रियों का जीवन संकट में फँस गया था। यात्री संकटकालीन दरवाजों से कूदकर अपनी जान बचा रहे थे और एक महिला करुण चीत्कार कर रही थी—"मेरी दो वर्ष की बच्ची पूनम को कोई बचा ले, भले ही मुझे आगे में झुलसने के लिए छोड़ दे। एक विदेशी ने इस अबला की पुकार को सुना और वह बच्ची को गोद में उठाकर जलते हुए विमान से बाहर कूद पड़े। इस प्रयास में वह स्वयं झुलस गये और उन्हें अस्पताल में चिकित्सा करानी पड़ी। मानवता देश और काल अथवा जाति भेद को नहीं जानती। श्री लायन ने सचमुच अपने नाम को सार्थक किया और बच्ची की माँ की कृतज्ञता के रूप में उन्होंने जो पुण्य कार्य किया, उसका कोई क्या हिसाब लगायेगा ?

राजधानी की उस घटना को सहज ही नहीं भुलाया जा सकता, जिसमें चार विद्यार्थी नवयुवकों ने अद्‌भुत साहस और सूझ-बूझ का परिचय दिया। तीन विद्यार्थी थे सेंट स्टीफेन्स कॉलेज के और एक था रामजस कॉलेज का। अपनी कक्षाओं से निकल कर सड़क पर आये थे कि उन्होंने दो लुटेरों-हत्यारों को लूट का माल लेकर भागते देखा। नवयुवकों ने अपनी जान-जोखिम में डालकर तत्काल लुटेरों का पीछा किया और उनके साथ गुत्थम-गुत्था हो गई। एक हत्यारे को पकड़ लिया लूट का ३२,०००

रुपया भी छीन लिया। इन विद्यार्थियों की सज्जनता, फुर्ती और बहादुरी की मद्रास जैसे दूर स्थान पर बैठे हमारे वरिष्ठ नेता राजाजी ने भी तारीफ की है और सिफारिश की है, इन विद्यार्थियों को डिग्री फौरन मिल जानी चाहिए, भले ही वे अपना अध्ययन करते रहें। सचमुच वे जीवन की परीक्षा में पास हुए हैं और उसी की असली कीमत है। किताबी परीक्षा तो लाखों पास करते हैं, किंतु जीवन की परीक्षा में नापास हो जाते हैं।

अब कलकत्ता के एक सिख टैक्सी ड्राइवर का भी स्मरण कर लें। एक समाचार-पत्र की मोटर गाड़ी पाँच आदमियों को लेकर बड़े सबेरे उनके घर पहुँचाने जा रही थी। कलकत्ता में अराजकता का बवंडर उठा था। कुछ शरारतियों ने यादवपुर के निकट गाड़ी को रोक लिया। उस पर पेट्रोल छिड़का और आग लगा दी। गाड़ी में बैठ लोगों को उतरने तक का मौका नहीं दिया। बाहर निकलने लगे तो उन पर पटाखे फेंके। वे घायल होकर जमीन पर गिर पड़े और कष्ट से कराहने लगे। कोई उनकी मदद को नहीं आ रहा था, इतने में वह सिख टैक्सी ड्राइवर न जाने कहाँ से घटना-स्थल पर देवदूत बनकर प्रकट हुआ। उसने अकेले हाथों दो घायलों को खींचकर अपनी गाड़ी में डाला। लोगों की एक छोटी भीड़ उस पर व्यंग्य-बाण चलाती और उसे धमकाती रही, किंतु टैक्सी ड्राइवर ने निर्भय होकर अपने कर्तव्य का पालन किया। थोड़ी देर बाद एक पुलिस वाहन भी पहुँचा और उसने शेष घायलों को अस्पताल पहुँचाया। घायलों में एक की मृत्यु हो गई, जिन्होंने समाचार-पत्र-प्रतिष्ठान में ३० वर्ष निष्ठापूर्ण सेवा की थी और जो साथियों तथा मित्रों के प्रीतिभाजन बने थे। इस अज्ञातनामा टैक्सी ड्राइवर को कौन प्रणाम करना न चाहेंगे ?

अंत में अपने देश से हजारों मील दूर एक फौजी न्यायालय में चलिये। यह क्यूबा का फौजी न्यायालय है। वहाँ चार व्यक्तियों पर, जिनमें दो बड़े फौजी अफसर भी शामिल थे, प्रधानमंत्री कास्ट्रो की हत्या का षड्यंत्र करने का अभियोग चलाया गया था। अपराधियों ने अपना अपराध स्वीकार कर लिया था और सरकारी

वकील न्यायालय से अपराधियों को मृत्युदंड देने की माँग करने जा रहे थे। इतने में प्रधानमंत्री श्री कास्ट्रो का एक पत्र सरकारी वकील के हाथों में दिया जाता है, जिसमें अनुरोध किया गया था कि अभियुक्तों के मृत्यु-दंड की माँग न की जाए। न्यायालय का वातावरण एक दम बदल गया, जब प्रधानमंत्री कास्ट्रों का पत्र पढ़ा गया। न्यायाधीशों और अभियुक्तों सभी ने दो मिनट तालियाँ बजाकर हर्ष प्रकट किया और सरकारी वकील ने ३० वर्ष की कैद की सजा की माँग करके संतोष कर लिया। अभियुक्त सैनिकों की गोली के शिकार होने से बच गए और किसी दिन कैद से भी मुक्त होने की आशा रख सकते हैं। क्षमा में वह शक्ति है, जो कठोर से कठोर व्यक्ति का दिल बदल सकती है।

हमारे यहाँ चंबल घाटी में एक चमत्कार हुआ था। विनोबा जी की सीख पर २० खूंख्वार डाकुओं ने आत्म-समर्पण कर दिया था। उनमें से १६ बरी हो गये। अब वे सामान्य जीवन बिता रहे हैं। चार को लंबी सजायें हुईं थीं और अब जेल से उन्होंने क्षमा याचना की है। यदि शासन उन्हें क्षमा कर दें, तो समाज की कोई हानि नहीं होगी और हृदय-परिवर्तन की क्रिया संपूर्ण हो जायेगी। भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ० राजेंद्रप्रसाद और उनके सैनिक ए० डी० सी० श्री यदुनंदन सिंह दोनों ही आज इस दुनिया में नहीं हैं, जिन्होंने चंबल घाटी के इस अभिनव-प्रयोग में सजीव दिलचस्पी ली थी। यदि इस प्रयोग को आगे बढ़ाया गया होता, तो चंबल घाटी की डाकू समस्या का हमेशा के लिए समाधान हो जाता।

जीवन का उज्ज्वल पक्ष मन को कितनी स्फूर्ति देता है और हृदय में कैसी ऊर्मियाँ उत्पन्न करता है ? वह अंतःकरण की मंद ध्वनि को मुखर करता है। उसी वंशी की तान शीत और पाले से झुलसे वृक्षों को पुनः हरा-भरा बना सकती है। आवश्यकता है तो यही कि हम प्रकाश की ओर देखें, जिसमें अंधेरे को निगलने की अखंड शक्ति भरी हुई है।

अंग्रेजी की अनिवार्यता हमारे राष्ट्रीय स्वाभिमान के विरुद्ध है

आज देश में प्रतिवर्ष परीक्षाओं में अनुत्तीर्ण होने वाले छात्रों की प्रतिशत-संख्या बढ़ती जा रही है। हर वर्ष हजारों, लाखों छात्रों का वर्ष और अभिभावकों का पैसा खराब हो रहा है। शिक्षा के संबंध में यह लक्षण अच्छा नहीं है।

विद्यार्थियों की इस बढ़ती हुई असफलता का कारण खोजने वालों का कहना है कि छात्रों के अनुत्तीर्ण होने का सबसे बड़ा कारण अंग्रेजी भाषा का अनिवार्य होना है। अधिकतर विद्यार्थी अंग्रेजी में ही फेल होते हैं।

विद्यार्थियों के अंग्रेजी में फेल होने के अनेक कारण हैं। अंग्रेजी भारतीयों के लिये अस्वाभाविक भाषा है। भारत की हिंदी तथा अन्य भाषायें संस्कृत से जन्म लेने के कारण पूरी तरह से पूर्ण एवं वैज्ञानिक हैं। सही तथा सच्ची भाषा के अभ्यस्त भारतीय विद्यार्थी अपूर्ण एवं अवैज्ञानिक भाषा अंग्रेजी की सरलतापूर्वक ग्रहण नहीं कर पाते। वह उनके स्वभाव के प्रतिकूल, दुरुह तथा अग्राह्य पड़ती है। इसी कारण से उनमें अंग्रेजी के प्रति सच्ची अभिरुचि उत्पन्न नहीं होती। अनिवार्य विषय के नाते वे उसे पढ़ते तो हैं, किंतु अनिच्छापूर्वक। फलस्वरूप उसमें अनुत्तीर्ण होकर समय एवं धन की हानि उठाते हैं।

देश की तरुण पीढ़ी में अपेक्षाकृत कुछ अधिक राष्ट्रीय गौरव की झलक आती-जाती है। विदेशी भाषा के होने के कारण उसके प्रति स्वाभाविक श्रद्धा उत्पन्न नहीं हो पाती। अंग्रेजी पढ़ते समय उसके गुप्त मन में यह भावना अवश्य रहती है कि उन्हें एक विदेशी भाषा जबरदस्ती पढ़ाई जाती है—वह भाषा अंग्रेजों की मानसिक दासता की प्रतीक है। इस आत्मग्लानि के कारण भी अंग्रेजी से उनकी भावनाओं का सामंजस्य नहीं हो पाता। अंततः बेमन पढ़ने के कारण विद्यार्थी अंग्रेजी में फेल होते रहते हैं।

उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं तक अंग्रेजी विषय भी हिंदी के माध्यम से ही पढ़ाया जाता है। अंग्रेजी में कोई विशेष योग्यता न पा सकने के कारण उनके लिये जीवन में अंग्रेजी की कोई उपयोगिता सिद्ध नहीं होती। इसलिये अंग्रेजी उनके लिये शिक्षा-काल में एक निरर्थक किंतु अनिवार्य बोझ बनी रहती है और इसी कारण वे उसमें फेल होते रहते हैं।

अंग्रेजी की अनिवार्यता के कारण फेल होने के डर से किशोर शिक्षा की ओर से उदासीन होने लगते हैं। अंग्रेजी की नैय्या पार लगाने की चिंता में अधिक समय देने के कारण उनके अन्य विषय कमजोर रह जाते हैं, जिससे बहुत से विद्यार्थी तो अनेक विषयों में अनुत्तीर्ण हो जाया करते हैं। इस असफलता का छात्रों के उत्साह पर तो बुरा प्रभाव पड़ता ही है, अभिभावक भी धन की व्यर्थता के कारण बच्चों को शिक्षा दिलाने में संकोच करने लगते हैं। इससे समग्र देश की शैक्षणिक आवश्यकता पर अवांछनीय प्रभाव पड़ता है। ऐसी दशा में उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं तक अंग्रेजी की अनिवार्यता का कोई महत्त्व समझ में नहीं आता।

अंग्रेजी रखी जाये, किंतु अनिवार्य न की जाये तब भी असफल छात्रों की संख्या में घटोत्तरी हो सकती है, जिन्हें रुचिकर हो अथवा जो छात्र उसे सीख सकने का साहस रखें, वही अंग्रेजी लें और अपनी रुचि के अनुसार उसमें प्रयत्न करके पास होते रहें। इससे अनुत्तीर्ण विद्यार्थियों की प्रतिशत संख्या तो घटेगी ही, साथ ही शिक्षा के संबंध में बहुत से छात्रों तथा अभिभावकों की हिम्मत भी नहीं टूटेगी। अंग्रेजी के कारण अनेक साल फेल होकर और बीच में ही पढ़ाई छोड़कर जो युवक अपनी जिंदगी खराब कर लेते हैं, वे अंग्रेजी को ऐच्छिक विषय बना दिये जाने पर इस अभिशाप से बच जायें।

मुख्य अथवा मातृ-भाषा के साथ अन्य भाषायें सीखना योग्यता के लिये आवश्यक हो सकता है। किंतु क्या जरूरी है कि वह अन्य भाषा विदेशी ही हो। भारत में १४ साहित्य संपन्न भाषायें हैं। उनमें से किसी एक को इच्छानुसार अनिवार्य कर दिया जाये।

इससे छात्रों की योग्यता तो बढ़ेगी ही साथ ही प्रांतीयता का विष भी दूर होगा और यदि संस्कृत को ही पूरे देश में दूसरी भाषा के रूप में अनिवार्य कर दिया जाये तब तो देश की एकता चट्टान की तरह सुदृढ़ हो जाये। भारतीय धर्म, सभ्यता एवं संस्कृति की आश्चर्यजनक वृद्धि होने लगे।

यदि किसी विदेशी भाषा का सीखा जाना ही आवश्यक समझा जाए तो यूरोप के देश इंग्लैंड की भाषा अंग्रेजी की ही क्यों अनिवार्य किया जाये। क्यों न किसी पड़ौसी देशों की जर्मन, फ्रेंच, लेटिन, अरबी, रसियन, चीनी, जापानी आदि की भाषा ही अनिवार्य की जाए। इससे पड़ौसी देशों को एक-दूसरे के नजदीक आने और ठीक प्रकार से समझने में सहायता मिल सकती है। इसके अतिरिक्त सीधी-सच्ची बात वह है कि अपने यहाँ उसी देश की भाषा अनिवार्य की जानी चाहिए, जो देश हमारी भाषा को भी अपने यहाँ अनिवार्य करें। अंग्रेजी को भारत की शिक्षा व्यवस्था में अनिवार्य करने से लाभ तो कुछ नहीं है, उल्टी हानि ही हानि है।

अंग्रेजों की राजनैतिक गुलामी से मुक्ति मिल जाने पर भी अंग्रेजी का पुछल्ला भारतीयों को मानसिक गुलामी से मुक्त नहीं होने दे रहा है। अंग्रेजी के कारण भारतीयों के मस्तिष्क में अंग्रेजों की महत्ता एवं श्रेष्ठता अभी तक घर किये हुए हैं। जिससे हमारी राजनीति पर परोक्ष रूप से अंग्रेजों का प्रभाव बना हुआ है। अंग्रेजी पढ़ने के कारण भारतीयों के सोचने का ढंग अंग्रेजों के अनुरूप ही रहता है। उनकी सभ्यता एवं संस्कृति का प्रभाव हमारे हृदयों पर पड़ता है। अंग्रेजी के कारण अंग्रेज अन्यों की अपेक्षा अधिक निकट तथा मित्रों जैसे अनुभव होते हैं। उनके प्रति अधिक विश्वास एवं सहानुभूति बनी रहती है, जिसका चतुर अंग्रेज प्रत्यक्ष एवं परोक्ष किसी न किसी रूप में लाभ उठा ही लेते हैं।

सच पूछा जाए तो अंग्रेजी की महत्ता संसार में खत्म हो गई है। कोई भी स्वाधीन देश उन्हें अब श्रेष्ठ नहीं मानता, न उनकी राजनीति से प्रेरणा ही लेता है। भारत ही एक ऐसा देश है, जो उनको उनकी भाषा के माध्यम से श्रेष्ठता एवं महत्ता दिये हुए है।

एक अरब की जनसंख्या वाला तथा संसार का महत्त्वपूर्ण देश भारत जब उनको महत्ता देता है, तो अन्य अनेक देशों पर तो अंग्रेजों का प्रभाव यों ही बढ़ जाता है। भारत के हित में अंग्रेजों की यह महत्ता ठीक नहीं है।

संसार में अंग्रेजों से कहीं उन्नत, विकसित तथा प्रगतिशीलता विशाल राष्ट्र मौजूद हैं। उनकी अवश्य इच्छा रहती होगी कि भारत जैसा विशाल देश उनकी ओर आत्मीयता का हाथ बढ़ाये, साथ ही वे यह भी क्यों न चाहते होंगे कि भारत को जब विदेशी भाषा अपनाना ही है तो वह हमारे भाषा को क्यों न अपनाये, जबकि उनका राष्ट्र मरणोन्मुख इंग्लैंड से अधिक शक्तिशाली विशाल तथा उन्नत राष्ट्र है। अपनी इस आंतरिक आकांक्षा से निराश होकर क्या उन देशों की सहानुभूति प्रच्छन्न रूप से भारत के प्रति कम न हो जाती होगी ? क्या बहुत से ऐसे राष्ट्र भारत को जिनकी मित्रता अपेक्षित हो सकती है, अपने नीति विरोधी अंग्रेजों की भाषा को सिरमौर बनाने से भारत के प्रति अन्यथा भाव से परिचालित नहीं होते होंगे ? क्या संसार के अनेक स्वाधीन एवं स्वाभिमानी राष्ट्र भारत को अंग्रेजों की भाषायी दासता करते देखकर उससे मन ही मन घृणा न करते होंगे ? क्या भारत को अंग्रेजी पर निर्भर देखकर अपनी राष्ट्र भाषा के धनी देश यह सोचने पर मजबूर न होते होंगे कि भारतीयों के पास कोई अपनी समर्थ एवं समृद्ध भाषा नहीं है ? अथवा यह हीन-भाव से मोहित होकर राष्ट्र की सर्वांगीण एवं संपूर्ण स्वाधीन राष्ट्रों की भाव-भूमि में भारत के प्रति इस प्रकार के शंकाकुल विचार देश की कितनी राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा गुरुता संबंधी हानि करते होंगे ? क्या अंग्रेजी के भक्त भारतीय कभी इस पर विचार करने का कष्ट करेंगे ?

अनिवार्यता के कारण अंग्रेजी की अपर्याप्त, अपूर्ण तथा संदिग्ध योग्यता पा लेने पर स्कूल, कॉलेजों से निकला हुआ तरुण-वर्ग किसी ऑफिस का बाबू बन जाने के अतिरिक्त और कर भी क्या सकता है ? हाँ, इतना जरूर होगा कि थोड़ी-बहुत अंग्रेजी जान लेने से वह काला अंग्रेज बनकर पाश्चात्य सभ्यता का भक्त

जरूर बन जायेगा। आज भारत के तरुण-वर्ग में भारतीयता के स्थान पर वेश-भूषा, आहार-विहार तथा आचार-विचार में जो ईसाईयत की झलक गहरी होती जा रही है, वह सब इस अंग्रेजी की अनिवार्यता के दोष के कारण ही है।

अंग्रेजी की अनिवार्यता के कारण महाराष्ट्र के निराशापूर्ण परीक्षाफलों को देखते हुए शिक्षाविद् श्री प्रभाकर कानडे ने ठीक ही कहा है—'अंग्रेजी भारत की नई पीढ़ी के लिये घातक भाषा है। प्रगति तथा उन्नति की सीढ़ी जब तक अंग्रेजी बनी रहेगी, ऐसी दशा में देश का लोकतंत्र फल-फूल सकना तो दूर, जीवित भी रहेगा, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

विदेशी भाषा के प्रभाव के कारण देश में निष्कलंक राष्ट्रीयता का अभाव रहना स्वाभाविक है। जिन लोगों अथवा जिस देश की भाषा पढ़ी जायेगी, उसका दृष्टिकोण स्वभावतः अपने दृष्टिकोण के ऊपर रहेगा। भले ही अंग्रेजी की शिक्षा आज ऊँची सरकारी नौकरी दिला सकने में सफल हो जाये, किंतु वह तरुण वर्ग को भारतीय दृष्टिकोण प्रदान नहीं कर सकती। अंग्रेजी के अनिवार्य शिक्षा—हो सकता है, समझी-बूझी, घिसी-पिटी तथा अभ्यासपूर्ण अंग्रेज नौकरशाही को सुभीता देती रहे, उसे चलाने में सहायक बनी रहे, किंतु यह निश्चित है कि वह भारत को सांस्कृतिक तेज से ओत-प्रोत एक अभिनव राष्ट्र बनने में बहुत दूर तक बाधक होगी।

संत विनोबा भावे ने भारत की नौकरशाही पर खेद प्रकट करते हुए ठीक ही कहा है—"बड़ी अद्‌भुत बात है कि शासन का सारा कारोबार आज भी उन हाथों में ही है, जिन हाथों ने देशभक्तों को जेल में डाला था और उन पर गोली चलाई थी। रामराज्य के शत्रु ही आज स्वराज्य के सिपाही संरक्षक तथा संचालक बन गये हैं। स्वतंत्रता के इतने साल बाद भी वही नौकरशाही मौजूद है।"

आचार्य विनोबा का यह कथन अक्षरशः सत्य है। पराधीनता काल की नौकरशाही आज स्वतंत्र भारत में भी यथावत् चली आ

रही है और जब तक भारत की राज्य भाषा अंग्रेजी बनी रहेगी और उच्च पद पाने के लिये उसकी अनिवार्यता अपेक्षित रहेगी, तब तक अंग्रेजकालीन नौकरशाही की परंपरा चलती रहेगी और जनता सच्चे स्वराज का सुख न पा सकेगी। यदि आज अंग्रेजी की अनिवार्यता समाप्त कर दी जाए, तो निश्चय ही देश से नौकरशाही तथा लालफीताशाही की परंपरा समाप्त हो जाए।

सरकार में ऊँचा पद पाने के लिये अंग्रेजी की अपेक्षित ऊँची योग्यता जिन विद्यालयों में मिल सकती है, वे इतने महँगे हैं कि साधारण लोग उनमें अपने बच्चों को नहीं पढ़ा सकते। स्वाभाविक है कि उनमें नौकरशाहों, पूँजीपतियों तथा मंत्रियों आदि के ही बच्चे पढ़ सकते हैं और वे ही सरकार के स्तंभ बनकर शासन में स्थान पायेंगे। साधारण जनता के नौनिहाल इन लाभों तथा सम्मानों से सुयोग्य होने पर भी वंचित रह जायेंगे। ऐसी दशा में आगे चलकर कुछ ही समय में इस प्रजातंत्र का क्या स्वरूप बनेगा ? नहीं कहा जा सकता।

भारत में अंग्रेजी को पोषण दिये जाने से इस प्रकार की होने वाली हानियों तथा अहितों को ध्यान में रखकर क्या उसके समर्थन में मत देने अथवा लाभ उठाने वाले अंग्रेजी भक्त राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचार कर सकेंगे ?

छूत-अछूत का भेद क्यों

चीन देश का एक लुहार ढालें और भाले बनाने का काम करता था। उसकी ढाल बड़ी मजबूत बनती थी। वह प्रायः कहता कि—"दुनिया का कोई भाला उसकी ढाल को नहीं छेद सकता।" गर्व करना अनुचित न था, उसकी ढाल बनती भी इतनी मजबूत थी। यही दशा भालों की भी थी। वह कहता था कि—"दुनिया में ऐसी कोई ढाल नहीं, जिसे मेरे भाले न छेद सकें।" बात बहुत दूर तक फैली। एक गाँव का मामूली किसान उसके पास जाकर बोला—"भाई, तुम्हारे ही भालों से कोई तुम्हारी ही ढाल छेदना चाहे

तो क्या होगा ?" लुहार के पास भला इसका क्या उत्तर हो सकता था ?

ढालों और भालों का यह दृष्टांत सच है या झूठ, यह तो अज्ञात है, पर हम हिंदुओं के साथ यह कथा अक्षरशः सत्य उतरती है। हमारा जातीय संगठन जब तक अभेद्य रहा, तब तक संसार की कोई भी शक्ति हमारा विच्छेदन नहीं कर सकी, किंतु जब से हमारे बीच पारस्परिक भेदभाव का व्यवहार प्रारंभ हुआ कि हमारा जातीय जीवन विशृंखलित हो गया। संगठन की ढाल को ऊँच-नीच के भेद के भाले ने छेदकर रख दिया और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हम पराजित होते चले गये।

जातियों का संगठन जो कभी सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से बना था, छूत-अछूत का भेदभाव पड़ने के कारण अपने मूल उद्‌देश्य से विचलित हो गया, फलतः हिंदुओं की जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग अपने आपको निराश्रित समझने लगा। उपेक्षा का भाव सबको बुरा लगता है। अपने ही आदमियों द्वारा तिरस्कार मिले तो वह और भी दुःखदायी बात होती है। जिन्हें हमारा समाज अछूत मानता है, उन्होंने इस प्रकार की पीड़ा अनुभव की और इस संगठन से विलग हो जाना ही अच्छा समझा। परिणाम आज सामने हैं। लाखों अछूत ईसाई-धर्म में दीक्षित होते जा रहे हैं। विकास की दृष्टि से भी हिंदुओं का एक बहुत बड़ा भाग उपेक्षित पड़ा हुआ है।

धर्म के नाम पर सेवा कार्य करने वालों को अछूत मानना धर्म की अवहेलना है। जिन्हें हम अछूत समझते हैं, वे मल आदि साफ करने का कार्य करते हैं, किंतु इसके लिए वे घृणा नहीं श्रद्धा के पात्र होने चाहिए। जिस कार्य को हम स्वयं नहीं कर सकते, उसे वे लोग पूरा करते हैं, इसके लिए हमें उनका कृतज्ञ होना चाहिए। कदाचित् वे ऐसा करने से इनकार कर दें तो दूसरे लोगों को कितनी कठिनाइयाँ उठानी पड़ें, इसका सहज में अनुमान लगाया जा सकता है। हमारे कार्य में हाथ बँटाकर वे हमें सुख-सुविधायें प्रदान करते हैं, इसके लिए क्या उन्हें घृणित दृष्टि से देखना चाहिए ?

मनुष्य-मनुष्य के बीच परमात्मा की दृष्टि में कोई भेद नहीं। शरीर प्रायः सभी एक जैसे ही मिले हैं। अन्न, जल, वायु, प्रकाश आदि का उपभोग सभी लोग स्वच्छंद रीति से करते हैं, फिर क्या यह अनुचित नहीं कि कुछ व्यक्तियों को जो समाज के आवश्यक अंग हैं उन्हें मानवोचित अधिकारों से वंचित रखा जाए ? हमारी इस कमजोरी का लाभ दूसरों ने उठाया, यह हम जान चुके, तो भी यह समस्या ज्यों की त्यों उलझी है। हरिजनों को लोग छूना तक पाप मानते हैं और यदि कोई गलती कर बैठे तो उसे समाज के कोप का भाजन बनना पड़ता है।

महापुरुषों तथा विचारवान् व्यक्तियों ने यह कभी अनुभव न किया कि सेवा कार्य करने वालों को अस्पृश्य समझा जाए। भगवान् कृष्ण ने दासी कुब्जा का आतिथ्य स्वीकार किया था और उसके घर जाकर भोजन किया था। भगवान् राम ने भीलनी के जूठे बेर खाये थे। महात्मा गांधी के हृदय में तो हरिजनों के प्रति इतनी श्रद्धा थी कि, वे जहाँ कहीं भी जाते थे—हरिजन बस्तियों में ठहरना अधिक पसंद करते थे। अछूतोद्धार का उन्होंने आंदोलन भी चलाया था, जिसका प्रायः सभी विचारवानों ने स्वागत किया। बापू जी के प्रयत्नों का ही फल है कि हरिजनों के उत्थान को राष्ट्रीय महत्त्व मिला, जो सर्वथा उचित और उपयुक्त भी है।

ऋषियों ने छूत-अछूत का कभी भेदभाव नहीं रखा। ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जब उन्होंने अछूतों से शारीरिक संबंध तक स्थापित किया। वशिष्ठ की पत्नी अरुंधती का नाम सभी आदर के साथ लेते हैं। ऋषि-पत्नी हरिजन कन्या थीं। शकुंतला, मेनका वेश्या की संतान थी, जिसके पुत्र भरत के नाम पर देश का नामकरण हुआ। शांतनु ने धींवर-कन्या से पाणिग्रहण किया था। ऐसी अनेक कथायें शास्त्रों और पुराणों में हैं, जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अछूतों के साथ भेद-भाव रखना धर्म और मानवता की किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है, वरन् यह हिंदू संस्कृति का एक बड़ा अभिशाप है, जिसे लोग छाती से चिपकाये बैठे हैं।

लोग यह कभी नहीं सोचते कि—अछूत कहलाने वाले अपना कार्य करना बंद कर दें तो सामाजिक जीवन में कितनी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जायें ? सफाईकर्मी मल की सफाई न करें तो सारा वातावरण दुर्गंध से भर जाए और लोगों का जीवन भी खतरे में पड़ जाय। मल की दुर्गंध से बीमारियाँ उठ खड़ी हो सकती हैं धोबी कपड़े धोने का काम बंद कर दें तो अन्य आवश्यक कार्यों से समय निकालकर कपड़ों की सफाई में लगना पड़े। इस अवस्था में आजीविका कमाने के लिए पर्याप्त अवकाश भी न मिले। चमार मरे हुए जानवरों को न उठायें तो मुर्दों की दुर्गंध कौन बरदाश्त करे ? यह सभी सफाई के कार्य इतने आवश्यक हैं कि उनमें से कोई एक बंद हो जाय तो सामाजिक जीवन में बड़ी गड़बड़ी फैल जाय। खेद है, फिर भी इस महत्त्वपूर्ण वर्ग को लोग अछूत मानकर उनसे दूर भागते हैं।

घर की माता भी तो वैसे ही कार्य करती है। बच्चे का मैल धोती हैं। उनके मल-मूत्र वाले कपड़े साफ करती है, इसके लिए क्या वह अछूत हो जाती है ? माता को जो सम्मान उसकी सेवा भावना के लिए, कर्तव्यपरायणता के लिए मिलता है, वह इन अछूत कहे जाने वाले व्यक्तियों को भी मिले, तो यह उचित ही होगा।

अछूतों के मैले-कुचैले रहने, व्यसनी होने, बुरे कार्य करने की दृष्टि से उन्हें हीन मानें तो यह मान्यता सवर्ण हिंदुओं पर भी तो लागू होनी चाहिए। तथाकथित उच्च जातियों में लोग कम गंदे नहीं होते, मांस, मदिरा, नशे आदि का प्रयोग कुलीन ब्राह्मण तथा क्षत्री भी करते हैं। सामाजिक अपराध करने वाले सवर्ण अधिक होते हैं। इन सबको ही अछूत क्यों न माना जाय ? यदि समाज इन्हें क्षमा कर सकता है, तो सेवा-निष्ठ अछूतों से भेद-भाव रखने का कोई कारण न होना चाहिए।

ईसाइयों की संख्या संसार भर में दो अरब से अधिक है, उनमें छूत-अछूत का कोई प्रश्न नहीं उठता। दिन भर काम करने के बाद जिले का कलक्टर जिस गिर्जाघर में पहुँचकर परमात्मा की इबादत करता है, उसी में शहर का भंगी भी शान के साथ

ईश-उपासना करता है। कोई भेद नहीं, कोई विलगाव नहीं। काम के समय अपने-अपने स्थान पर, शेष सारे समय आपस में मिलने-जुलने, उठने-बैठने, खाने-पीने में सब एक। इसी आत्म-भावना के कारण सबसे बाद में स्थापित ईसाई धर्म आज संसार के प्रत्येक भाग में फैला हुआ है।

जनसंख्या की दृष्टि से मुसलमानों का दूसरा नंबर है। हिंदुओं की तरह उनमें भी अनेक उपजातियाँ हैं, किंतु छूत-अछूत का उनमें भी कोई भेदभाव नहीं है। मुसलमान चाहे वह नाई का कार्य करता हो, चाहे धोबी, मोची या अन्य कोई, सब एक साथ बैठकर भोजन कर जाते हैं। इनसे उनकी धर्मनिष्ठा कम नहीं होती, वरन् वे और भी अधिक विकसित हुए हैं। संगठित होने के कारण ही थोड़े से मुसलमानों ने भारत पर चढ़ाई की और छूत-अछूत का भेद करने वाले करोड़ों हिंदुओं को दास बना लिया। फिर भी हिंदुओं की आँखें न खुलीं। लोग अभी भी इस भेद को मिटाने के लिए तैयार नहीं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय संविधान में हरिजनों को अन्य सवर्णों जैसे अधिकार दिये गये हैं। देश के अनेक भागों में उन्हें मंदिरों, तालाबों आदि सार्वजनिक स्थानों में प्रवेश पाने का अधिकार भी प्राप्त हुआ है। पर सवर्णों की रूढ़िग्रस्त विचारधारा के फलस्वरूप अभी छुआछूत की समस्या पूर्णरूप से सुलझी नहीं है। दूसरे धर्म वाले अब भी इसका लाभ उठा रहे हैं और प्रति वर्ष लाखों अछूत दूसरे धर्मों में परिवर्तित होते जा रहे हैं। यह देखकर हिंदू-धर्म में आस्था रखने वालों का चिंतित होना आवश्यक है। यह धार्मिक कर्तव्य भी है और राष्ट्रीय दायित्व भी कि हम अपने संगठन को कमजोर न होने दें।

भारतवर्ष की जनसंख्या का एक तिहाई भाग हरिजनों का है। यह लोग उस संगठन से संबंध विच्छेद कर लें, तो हिंदू-समाज बिन हड्डियों की लोथ बनकर रह जायगा। उसका अस्तित्व और प्रभाव दिन पर दिन कमजोर होता चला जायगा। अतः अब हम उस स्थल पर आ पहुँचे हैं, जहाँ पर हमें यह निश्चय कर लेना है

कि इस महत्त्वपूर्ण जनसंख्या को छोड़ा नहीं जा सकता। ऐसा निश्चय हो तो छूत-अछूत के भेदभाव को भुलाना ही पड़ेगा। अपने ही भाले से अपनी ही ढाल का उच्छेदन किसी प्रकार की हितकारक नहीं है।

अश्लीलता के अजगर से देश को बचाइए

वह हर वस्तु, विचार अथवा व्यवहार अश्लील है, जो मनुष्य के मन को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से किसी निर्लज्जता की ओर संकेत करता है।

किसी भी प्रकार की अश्लीलता फिर चाहे वह वैचारिक हो अथवा व्यावहारिक हम मनुष्य कहलाने वाले लोगों को शोभा नहीं देती। आज समाज में बुरी तरह फैली हुई अश्लीलता को घृणित होते हुए हर अच्छा आदमी भी उसी प्रकार मजबूरन सहन कर रहा है, जिस प्रकार निकम्मे निवासियों की गलियों से गुजरता हुआ राही मल-मूत्र के साथ सड़ते हुए कूड़े-कर्कट की भयानक दुर्गंध सह लेता है।

भारत जैसे धार्मिक एवं नैतिक देश में जो अश्लीलता का आज व्यापक फैलाव दीख रहा है, उसके अनेक कारणों में आधारभूत कारण पाश्चात्यों के निकट संपर्क में आना है। अंग्रेजों और उन्हीं के भाई-बंद अन्य पाश्चात्यों में नैतिकता की परिभाषा भारतीयों जैसी तो है नहीं। अश्लीलता का जो अर्थ हम भारतीयों के बीच मान्य है, वह अर्थ पाश्चात्य देशों में नहीं है। उनके यहाँ इनका क्या अर्थ है ? यह ठीक से नहीं कहा जा सकता। खुले आम सड़कों तक पर चुंबन, आलिंगन उनके यहाँ सभ्यता एवं प्रगतिशीलता में शामिल है। नग्न-नृत्य (बैले डांस) और नग्न चलचित्र देखना उनके यहाँ बुरे नहीं माने जाते। नारी के शारीरिक-सौष्ठव को चित्रित करने के लिए चित्रकारों को मॉडल-गर्ल्स का मिल जाना एक साधारण बात है। यह मॉडल-गर्ल्स न केवल अपनी भंगिमाओं की अभिव्यक्ति तक ही सीमित रहती है, बल्कि निर्मुक्त-निर्मर्याद होकर चित्रकार अथवा फोटोग्राफर की

इच्छानुसार अपनी भाव-भंगिमा प्रदान करती हैं। नंगे चित्र देना और लेना पाश्चात्य सभ्यता की कला में शामिल हैं। नारियों के ही नहीं, पुरुषों के भी नग्न चित्र बिकते पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त और न जाने कितनी ही ऐसी भारत में अश्लील मानी जाने वाली बातें, वहाँ सभ्यता एवं कलाओं का अंग बनी हुई हैं।

एक समय सभ्य भारत में भी विविध भाव-भंगिमाओं के साथ स्त्री-पुरुषों के नग्न एवं अर्द्ध-नग्न मूर्तियाँ बनाई जाती थीं, जो प्राचीन मंदिरों तथा गुफाओं में अब तक पाई जाती हैं। किंतु उनका क्षेत्र जन साधारण से बहुत दूर था। समाज में सामान्य रूप से उनकी प्रियता का कभी भी प्रचार नहीं हुआ।

वह कला बहुत ही उच्चमना कलाकारों तक ही सीमित रहती थी, जिसकी अभिव्यक्ति वे प्रौढ़ मन वाले मस्तिष्क वाले व्यक्तियों की शिक्षा के लिए ही करते थे। उस समय की आनग्न मूर्तियाँ अथवा चित्र केवल मानवीय ज्ञान के लिए ही बनाई गई थीं, मनोरंजन अथवा उत्तेजना के लिए नहीं। इतने पर भी भारत ने उसको कभी अपनी जन सभ्यता में शामिल नहीं किया।

इसके अतिरिक्त एक समय का साहित्य भी कुछ-कुछ अश्लीलता के निकट आ पहुँचा था। वह काल 'रीति काल' कहा जाता है। मुख्यतया नायिका भेद पर आधारित रीतिकालीन साहित्य का कुछ अंश और कतिपय कवि निःसंदेह शालीनता की परिधि लांघ गये हैं। फिर भी जनसाधारण में इसका बहुत ही कम प्रचार था। जनसाधारण में तुलसी, सूर, नंददास, कबीर जैसे भक्तिकालीन कवियों का भक्ति साहित्य की अभिरुचि प्रचार एवं पठन-पाठन की प्रमुखता पाये हुए था।

रीतिकालीन श्रृंगार साहित्य मुसलमान बादशाहों की प्रेरणा का फल था और वह वास्तव में विलासी राजा, नवाबों और बादशाह के दरबार तक अधिक सीमित ही रहा है। जिस पर भी इसके विकृत प्रभाव ने राजदरबारों से लेकर जनसाधारण तक अपनी अमांगलिक छाप छोड़ी ही, जिसके कारण उन विलासी नवाबों और बादशाहों का

घोर पतन हुआ और शीघ्र ही उनकी सारी हस्ती धूल में मिल गई और प्रमाद में पड़ी जनता भी सैकड़ों बार विदेशी लुटेरों द्वारा जी भरकर लूटी गई और अंत में इस पतन की परिणति अंग्रेजों की गुलामी में होकर ही रही। इतना सब कुछ होने पर भी वह साहित्यिक अश्लीलता न तो भारत की मूल सभ्यता में मानी गई और न वास्तविक साहित्यों में। भारत की अपनी नैतिकता जहाँ की तहाँ रही और जनता का सामान्य चरित्र भी न गिरने पाया था। साथ ही जो कुछ थोड़ा बहुत चरित्र का पतन हुआ था, वह तत्कालीन समर्थ गुरु रामदास जैसे महान् संत परंपरा ने उठा लिया था।

जिस समय अंग्रेजों ने भारत पर अपना पूरा अधिकार कर लिया था, उस समय कतिपय राजा-नवाबों को छोड़कर भारतीयों का नैतिक चरित्र बहुत ऊँचा था, जो कि भारतीयों को पूर्णरूपेण अपना मानसिक गुलाम बनाने के प्रयत्न में अंग्रेजों के लिए एक बहुत बड़ी बाधा बना हुआ था।

अपनी हुकूमत निष्कंटक करने के लिए अंग्रेज भारतीयों के नैतिक बल का ह्रास अवश्य कर देना चाहते थे। इसलिए उन्होंने पद, पदवी और संपर्क का जाल बिछाकर भारतीयों को जाल में फँसाना शुरू कर दिया। अंग्रेजों की नीति सफल हुई और भारत की भोली जनता अपनी नैतिक हानि कर बैठी। एक बार गलत रास्ते पर डालकर फिर तो अंग्रेजों ने उन्हें बैले-डांस जैसे अश्लीलतम मनोरंजनों का अभ्यस्त बना दिया। अश्लील साहित्य, चित्रों तथा चलचित्रों का इतना प्रचार करा दिया कि उन्हीं की तरह भारतीय भी इन्हें सभ्यता, प्रगति का लक्षण मानने लगे। नैतिकता के सामाजिक नियम और सरकारी कानून ढीले कर दिये गये।

अंग्रेज प्रभुओं की कृपा से लाई गई यह अश्लीलता बढ़ते-बढ़ते आज कहाँ तक पहुँच गई है, इसे देखकर तो हृदय ग्लानि से भर उठता है। आज खुले आम बाजारों में न केवल साधारण नारियों की अश्लील प्रतिमायें ही, बल्कि आदर्श नारियों के यहाँ तक कि देवियों एवं सतियों के अभद्र भाव- भंगिमाओं के चित्र बिकते और दुकानों पर टँगे दिखाई देते हैं।

राधा-कृष्ण युगल की तो चित्रकारों ने मिट्टी खराब कर रखी थी। अब तो कला और स्वाभाविकता के नाम पर उमा-महेश्वर तथा मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम और सती शिरोमणि माता सीता के आदर्शनीय चित्रों की भरमार होती जा रही है। ऐसी-ऐसी अश्लील-भंगिमाओं और अभद्र मुद्राओं के चित्र बनने बिकने और टँगने लगे हैं, जिन पर दृष्टि पड़ते ही कानों पर हाथ रखना पड़ता है और भारतीय समाज का वह भयानक चित्र सामने आता है कि आत्मा काँप जाती है।

अश्लील साहित्य की तो बाढ़-सी आई हुई है और समाज के तरुण वर्ग में तो इसके प्रति इतनी अभिरुचि बढ़ गई है कि वे इस तरह खोज-खोज कर चाटते हैं, जैसे कोई भूखा कुत्ता हड्डी चाटता है। स्कूल-कॉलेज की पाठ्य-पुस्तकों के बीच एक सचित्र अश्लीलतापूर्ण चवन्नियाँ उपन्यास होना एक साधारण बात हो गई है। ब्रज के रसिया, किस्सा तोता मैना अथवा मजेदार गानों की किताबें शिक्षित वर्ग में छाई हुई हैं।

आज भारत में सिनेमा देखने का प्रचार हो गया है। यह किसी से छिपा हुआ नहीं है और यह सब जानते हैं कि सिनेमा का अश्लील प्रभाव आज समाज पर किस बुरी तरह छाया हुआ है ? आदर्श पुरुषों और देवी-देवताओं के चित्रों का स्थान तो सिने-तारिकाओं एवं सितारों ने ले ही लिया है, उनके फिल्मी गीतों ने पूजा-पाठ, साधना-प्रार्थना के भजनों को भी मार भगाया है। बच्चों से लेकर तरुणों तक और पुरुषों से लेकर बालिकाओं तक के श्रीमुख से सिनेमा के अश्लील गानों के फब्बारे छूटते सुनाई पड़ते हैं। गायकों से लेकर कविता तक पर सिनेमा की शैली हावी हो गई है।

जनता की विकृत रुचि के कारण रेडियो से प्रसारित होने वाले कार्यक्रम भी बहुत शालीन नहीं होते हैं। सिनेमा में प्यार भरे अभद्र गानों की फरमायश बढ़ती जाती है, जिससे रेडियो भी एक प्रकार से फिल्म प्रचारक ही बन गये हैं। ठीक यही हाल टी. वी. चैनलों का है।

शीघ्र ही अश्लीलता के इन प्रचारों पर प्रतिबंध लगाया गया अथवा जनता ने इनका स्वयं बहिष्कार न किया, तो वह दिन दूर नहीं कि संसार में नैतिकता एवं शालीनता का एक मात्र शेष स्थान भारत भी फ्रांस, इटली और अमेरिका जैसे बन जायेगा और अश्लीलता का अजगर इसको आमूल निगलकर इसके महान् गौरव को भी समाप्त कर देगा।

ग्रामोत्थान—राष्ट्र की आत्मा का उत्थान

भारतवर्ष की आत्मा के दर्शन करने हों तो गाँवों की ओर चलना चाहिए। शहरों में विभिन्न संस्कृतियों तथा सभ्यताओं के सम्मिश्रण से ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है, जहाँ धर्म-प्राण भारतवर्ष के कठिनाई से दर्शन हो सकते हैं। यहाँ की आंतरिक सुदृढ़ता, ईश्वर-विश्वास, लोक-जीवन की वस्तुतः झाँकी तो देहातों में ही होती है, जहाँ भोले-भाले ग्रामीण निवास करते हैं।

खेद की बात है कि स्वतंत्रता प्राप्त किये हुए बहुत दिन हो गये, किंतु गाँवों की अवस्था में किसी तरह का सुधार नहीं हुआ। भारतवर्ष में साढे पाँच लाख से भी अधिक संख्या गाँवों की है। शहरों की संख्या तो केवल ढाई हजार के लगभग ही है। इस अवधि में उद्योग, जल, विद्युत्, मकान आदि की जो अनेक सुविधाएँ बढ़ी हैं और उससे यहाँ की आय और रहन-सहन के स्तर में कुछ सुधार हुआ है, उसका लाभ अधिकांश शहरों को ही मिला है। गाँव अब तक नितांत उपेक्षित हैं। वहाँ के निवासियों की अवस्था पहले से भी गई बीती है, वहाँ के लोगों का जीवनस्तर अभी भी गिरा हुआ ही है।

गाँवों की उपेक्षा का अर्थ है—भारतीय आत्मा की उपेक्षा। इसके कारण यहाँ की उन्नति का सही मूल्यांकन नहीं हो सकता। गाँव हमारे देश के विकास की रीढ़ हैं। ग्रामीणों पर यहाँ की उन्नति-अवनति आधारित है। इसलिए इस दिशा में सरकारी अथवा सामाजिक संस्थाओं द्वारा विकास के हर संभव प्रयास किये जाने

चाहिए। गाँव जाग जायेंगे—तो भारतवर्ष जाग जायेगा। गाँव उठेंगे—तो भारतवर्ष ऊँचा उठ जायेगा।

यह बात अब सरकार ने भी मान ली है कि ग्रामोत्थान राष्ट्र की प्रमुख समस्याओं में से हैं और इसके लिए वह प्रयत्नशील भी है, पर यह बात पूरे मन से समझ लेनी चाहिए कि इस समस्या का हल ग्रामीणों के पास है। वे स्वयं ही अपनी उन्नति कर सकते हैं। ग्रामोत्थान के लिए विशेष रूप से उन्हें कटिबद्ध होना पड़ेगा। यदि ऐसा न हुआ तो सरकारी साधन और प्रोत्साहन किसी काम न आयेगा। समस्या ज्यों की त्यों उलझी पड़ी रहेगी।

पहली आवश्यकता जो गाँव माँगते हैं, वह है आमदनी का बढ़ना। गाँवों के लोग कठिन परिश्रम करते हैं, तो भी उन्हें उसका समुचित मूल्य नहीं मिलता। वे स्वयं कमाते हैं, पर उनका आहार नितांत अपौष्टिक पायेंगे। कपड़े फटे हुए, मकान गिरे-गिराये। इसमें उनकी व्यवस्था का, अशिक्षा का दोष प्रमुख है। गाँवों में गोबर की खाद पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो जाती है, पर उसे इस्तेमाल में लाने का तरीका गलत है। अतः उन्हें कंपोस्ट खाद बनाना सीखना चाहिए। मजदूरों और किसानों में पारस्परिक सहयोग बना रहना चाहिए। यह न हो कि मौके पर मजदूर किसान को परेशान करे और किसान मजदूर को। इससे दोनों की ही कार्य क्षमता घटती है, समय का अपव्यय होता है।

खेती में उपयोग आगे वाले यंत्रों को आधुनिक रूप देने में भी कुछ हर्ज नहीं, न इससे किसी तरह की हानि ही है। साधन बढ़े तो ट्रेक्टर, हार्वेस्टर, मॉडल की मशीनों को अकेले या सामूहिक रूप से प्रयोग किया जा सकता है। इससे कम समय में काम अधिक होता है। आमदनी दो गुनी, तीन गुनी तक बढ़ सकती है। धन की कमी का रोना फिजूल बात है। जेवरों के रूप में अभी भी गाँवों में सोना-चाँदी कम नहीं है। बेकार में नष्ट करने की अपेक्षा उसे इन कार्यों में लगा देने में लाभ ही है।

पशुओं और आदमियों से खेतों की सुरक्षा के लिए काँटेदार तार या काँटेदार झाड़ियाँ मेड़ों में गाड़ी जा सकती हैं। जिनके पास काम न हो उन्हें पशुपालन, लकड़ी काटने, दूध बेचने आदि के सहायक धंधे खोल लेने चाहिए और भी किसी तरह का स्थानीय उद्योग पनप सकता हो, तो उसे भी चलाना चाहिए। सिंचाई आदि के साधनों के लिए जो सरकारी ब्याज की व्यवस्था की गई है, उनका भी लाभ लेना चाहिए। संक्षेप में आमदनी बढ़ाने के जो भी तरीके हो सकते हैं, उन सबका प्रयोग करना ही चाहिए।

उत्पादन वृद्धि के साथ-साथ शिक्षा, स्वास्थ्य और स्वच्छता यह तीनों ही अनिवार्य हैं। गाँव वालों में अशिक्षा और अस्वच्छता तो एक प्रकार का रोग है। गाँव के लोग मिलजुल कर ऐसी पाठशाला चला सकते हैं, जहाँ कामकाजी आदमी शाम को बैठकर कुछ पढ़-लिख सकें, सत्संग कर सकें, राष्ट्र और अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं की जानकारी प्राप्त करते रहा करें। भजन-कीर्तन की कुछ मनोरंजन व्यवस्था भी की जा सकती है। स्वास्थ्य के लिए हर गाँव में अखाड़े रहें। चिकित्सा की भी व्यवस्था बहुत जरूरी है। अपने शरीर-वस्त्र, घर-बाहर की स्वच्छता और सफाई भी अनिवार्य है। आमतौर से गाँवों में नावदान का पानी बहुत अव्यवस्थित रहता है, उसके लिए "साकेटपिट्स" का निर्माण कराना ही उत्तम होता है। गाँव की प्रकृति स्वच्छ होती है, ग्रामीण अपनी स्वच्छता पर भी थोड़ा ध्यान दें लें, तो उससे 'सोने में सुहागे' की कहावत फलितार्थ हो सकती है।

ग्रामीणों की अवनति का एक कारण रूढ़िवादिता भी है। बहुत समय से ऐसे रीति-रिवाज चले आ रहे हैं, जिनसे लाभ की अपेक्षा हानि अधिक है। तिथि-त्यौहारों में भी विवेक का कोई स्थान नहीं। भूत-प्रेतों पर विश्वास, झाड़-फूँक, विशेष अवसरों पर जानवर सजाने, बलि देने आदि अनेकों ऐसी बुराइयाँ गाँवों में प्रचलित होती हैं, जिनके कारण उनका समय, श्रम और धन बेकार में नष्ट होता है। इन रूढ़िवादिताओं को अब शहरों की तरह गाँवों को भी बुद्धि विवेक की दृष्टि से देखना चाहिए और घृणित कुरीति चाहे वह

दहेज, मृत्युभोज आदि ही क्यों न हो, उसका डटकर मुकाबला करना चाहिए। यह पैसा बड़े काम का है। इससे बच्चों की शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था हो सकती है, अच्छे जानवर भी खरीदे जा सकते हैं, कोई सहायक धंधा भी चलाया जा सकता है। जरूरत इस बात की है कि गाँव वाले यह समझें और इस पर विचार करें कि कौन-कौन से काम हमारे भले के लिये हैं ? कौन-कौन से नुकसान करते हैं ? इन पर मिलजुल कर विचार करना चाहिए और उन्हें छोड़ने के लिये सामूहिक रूप से कटिबद्ध होना चाहिए।

भेद-भाव की बीमारी इस देश में बहुत काल से चली आ रही है। ब्राह्मण-ब्राह्मण में भी भेद है। जाति-पाँति के झगड़े गाँवों में विशेष रूप से चलते रहते हैं। इस कारण आपसी वैमनस्य का वातावरण हमेशा ही बना रहता है और आये दिन-सिर फुटौअल होती रहती है। जिस समाज में इस प्रकार अनात्मीयता का व्यापक विस्तार हो, वहाँ उन्नति की संभावनायें टिक भी नहीं सकती। अतः अब इस भेद-भाव को भूलकर अपना संगठन हिंदू की भावना से दृढ़ करने पर जोर देना चाहिए। खान-पान सब एक साथ बैठकर कर सकें तो इसमें हर्ज की कौन-सी बात है ? इससे किसी का धर्म तो नहीं चला जाता। मुसलमान एक ही थाली में कई-कई बैठकर भोजन कर लेते हैं, फिर हिंदू क्यों वैसा नहीं कर सकते ? किसी भी तरह हिंदुओं की अपने सामाजिक बंधन मजबूत बनाने के विशेष प्रयत्न करने ही चाहिए। मिलजुल कर काम करने से उनकी अनेक समस्यायें हल हो सकती हैं।

पंचायतें प्राचीन काल में जातीय एकता की प्रतीक थीं, किंतु अब उनमें भेद-भाव, पक्षपात और स्वार्थपरता चलती हैं। पंचायतों का संगठन सामाजिक आत्मीयता के आधार पर हो तो गाँवों का बहुत बड़ा हित हो सकता है। इसी प्रकार विवाह-शादी में जाति-पाँति तोड़ने की बात भी संभव है। कुछ दिन तक विरोध होगा, पर उसे भी धीरे-धीरे दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए।

ईमानदारी गाँव वालों की मुख्य जायदाद है, क्योंकि वे आपस में इतने संबद्ध होते हैं कि एक के बिना दूसरे का काम नहीं चल

सकता। लोहार खेती के औजार बनाकर देता है, किसान बदले में उसे अनाज देता है। किसान-किसान का भी घनिष्ट संबंध होता है। सब एक-दूसरे से इतने संबद्ध होते हैं कि एक के बिना दूसरे का काम ही नहीं चल सकता। समस्या का एक ही हल है सब ईमानदारी के साथ सामुदायिक भावना से काम करें। इसमें सबका हित, सबकी उन्नति है। जिन गाँवों में, मिलजुल कर काम हो रहा है, वे उन्नति करते चले जा रहे हैं।

उपरोक्त पाँच शुद्धियों से गाँवों के स्वरूप का निखार संभव है। कुरीतियों को मिटाया जाए और उद्यम को बढ़ाया जाए तो हमारे गाँव स्वर्गीय वातावरण में बदल सकते हैं। गाँवों में भारतवर्ष की आत्मा निवास करती है, यह आत्मा जाग जाए तो सारे राष्ट्र का कल्याण हो सकता है।

यह सर्वव्यापी भ्रष्टाचार रोका जाए

वर्तमान युग के मुख्यतया गत ५० वर्षों में ही हमने शिक्षा, उद्योग, व्यवसाय, कला, शिल्प, विज्ञान आदि के क्षेत्र में पर्याप्त प्रगति की है और सफलतायें भी मिली हैं। हमारे जीवन स्तर में भी वृद्धि हुई है। स्वास्थ्य और जीवन निर्वाह की सुविधाओं से मृत्यु संख्या घटी है और हमारे औसत आयु में वृद्धि भी हुई है। जीवन में एक बहुत बड़ी बुराई भी दिनों-दिन बढ़ती रही, जिसने आज जन-जीवन को व्यापक स्तर पर प्रभावित कर रखा है। वह है— भ्रष्टाचार और अपराधों की वृद्धि। हमारे आचार-व्यवहार में सच्चाई, ईमानदारी की दिनों-दिन होने वाली कमी ने आज हमारे समक्ष एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक समस्या खड़ी कर दी है।

व्यवसाय के क्षेत्र में धोखाधड़ी, मिलावट, चोर-बाजारी, तस्करी, ठगी आदि व्यापक रूप में फैले हुए हैं, तो सरकारी क्षेत्र में रिश्वत, गबन, जालसाजी, सिफारिश, भाई-भतीजावाद फैला हुआ है। सामाजिक जीवन में व्याप्त स्वार्थपरता, नैतिक पतन, गुंडागर्दी, चोरी, उठाईगीरी, डकैती आदि का स्वरूप भी कुछ कम भयंकर नहीं है।

मजदूरों को पहले से अब अच्छे अधिकार प्राप्त हैं, उन्हें मजदूरी भी पहले से अधिक मिलती है, किंतु उनमें कार्य करने की स्वतंत्र बुद्धिक्षमता और जिम्मेदारी की इसी अनुपात में कमी भी आई है। जैसे-तैसे अच्छा-बुरा काम करके अपना समय पूरा करने की मनोवृत्ति बढ़ती जा रही है। यदि कोई निगरानी रखने वाला न हो तो शायद कई गुने समय में काम भली प्रकार पूरा न हो। मजदूरों की असामयिक हड़तालें, राष्ट्रीय संपत्ति को हानि पहुँचाने की घटनायें, व्यवस्था को गड़बड़ करने के प्रयत्न आजकल सामान्य-सी बात हो गई है।

व्यवसाय के क्षेत्र में अपने लाभ की बात को सर्वोपरि महत्त्व दिया जाने लगा है। अपने लाभ के लिए जो भी प्रयत्न—चाहे वह नैतिक हो या अनैतिक करने में लोग नहीं चूकते, लाभ और वह भी जितना मिले, इस मनोवृत्ति के कारण व्यापारी लोग वस्तुओं में मिलावट करते हैं। आज कोई वस्तु शुद्ध रूप में मिल जाए, यह बहुत बड़े सौभाग्य की बात है। घी, तेल, मसाले, आटा, बूरा इसी तरह की अन्य जीवनोपयोगी वस्तुएँ आज शुद्ध रूप में मिलना कठिन हो गई हैं। इन अशुद्ध पदार्थों के उपयोग करने से जन जीवन में स्वास्थ्य की खराबी, रोग, शारीरिक विकार व्यापक रूप से फैलते जा रहे हैं। इससे समाज की कितनी हानि होती है ? ऐसा कोई भी मिलावट करने वाला व्यापारी नहीं सोचता। कुछ समय पूर्व हमारे देश से बड़ी संख्या में जूते रूस भेजे गये थे, किंतु नमूने से भिन्न और नकली होने के कारण उन्हें लौटा दिया गया, जिससे करोड़ों रुपये की हानि हुई, साथ ही भारत की प्रतिष्ठा कम हुई, सो अलग।

व्यापार में धोखाधड़ी, कहना कुछ देना कुछ, विज्ञापन उच्च किस्म का और वस्तु घटिया दर्जे की सामान्य-सी बात हो गई है। टैक्सों की चोरी, हिसाब में गड़बड़-घोटाला सामान्य-सी बात है। बड़ी-बड़ी कंपनियाँ इस तरह के षड्यंत्र में पकड़ी जाती है। करोड़ों रुपये टैक्स गबन करके कई व्यापारिक संस्थाएँ गायब हो जाती हैं या दूसरे नाम से कारबार शुरू करती हैं।

सार्वजनिक निर्माण के कार्यक्रमों में बड़ी-बड़ी योजनाओं के निकम्मे परिणाम बहुत जल्दी ही देखने को मिल जाते हैं। इस तरह बनी हुई इमारतें एक बरसात भी ठीक से नहीं निकाल पाती, उनमें से पानी चूने लगता है, तो दीवार में दरार पड़ जाती है। प्रसिद्ध भाखड़ा नाँगल बाँध में दरार पड़ जाना, पठानकोट-काश्मीर सड़क का बहना, पूना के बाँध का टूटना आदि अनेकों ऐसी घटनायें हैं, जो हमारे निर्माण कार्यों में लगे लोगों के भ्रष्टाचार से संबंध रखती हैं। अक्सर इनमें मिलावटी सामान लगाया जाता है। केवल नक्शे के अनुसार खूबसूरत ढाँचा खड़ा कर दिया जाता है। उसका जीवन कितना है ? इसका निर्णय नहीं होता।

सरकारी मशीनरी और नौकरशाही का नाम तो इस भ्रष्टाचार के लिए और भी अधिक बदनाम हो रहा है। आजकल यह शब्द सरकारी कर्मचारियों के लिए ही अधिक प्रयुक्त हो रहा है। रिश्वतखोरी, सिफारिश, भाई-भतीजेवाद आदि कई रूपों में भ्रष्टाचार फैला हुआ है। बहुत से सरकारी कार्यालयों में किसी भी काम कराने में रिश्वत देना एक सामान्य-सी बात हो गई है। बिना दिए-लिए काम करना कठिन हो गया है। कई कार्यालयों में क्लर्कों की एक नियत दर-सी बँध गई है। उनकी भेंट न दी जाय तो समय पर ठीक-ठीक काम नहीं हो पाता। दस-पाँच रुपये के पीछे भारी हानि उठानी पड़ती है। कई बार इन लोगों के कोप-भाजन बनने पर सामान्य-सी बातों में, कोई लाइसेंस बनवाने में, परमिट लेने में, रजिस्ट्री कराने में, किसी वस्तु का कोटा मंजूर कराने में, यहाँ तक कि आवश्यक कागजात दिखाने में, नौकरी के लिए संबंधित कर्मचारियों की मुट्ठी गर्म करनी पड़ती है। भुक्त-भोगी भली प्रकार जानते हैं कि अक्सर सरकारी काम को बिना दिये-लिए पूरे करना कठिन हो जाता है। कोई सिफारिश हो या कुछ देने के लिए भेंट-पूजा हो, तभी आसानी से काम निकलता है।

विभिन्न दफ्तरों में, विभागों में चल रही धाँधलेबाजी एक सीधे आदमी के लिए सिर-दर्द बन जाती है। कई बार अपना सामान चोरी हो जाने पर, कोई वारदात हो जाने पर भी, उसकी शिकायत

करने से हम बचना ही चाहते हैं, क्योंकि ठीक-ठीक न्याय तो मिलना दूर उल्टे थाने, कचहरियों के बार-बार चक्कर काटने पड़ते हैं। आने-जाने का, गवाहों का, लिखा-पढ़ी का खर्चा, दफ्तर के बाबू लोगों की भेंट-पूजा, तरह-तरह की फीस आदि से होने वाली हानि—पहले हो गई हानि से कहीं अधिक परेशानी हो जाती है।

यों सरकारी और गैर-सरकारी सभी क्षेत्रों में सज्जन मौजूद हैं। ईमानदारी का सर्वथा अभाव तो कभी नहीं हुआ और न होगा। अभी भी सज्जन और ईमानदार व्यक्ति हर क्षेत्र में मौजूद हैं, पर उनकी संख्या का घटते जाना और बेईमान भ्रष्ट तत्त्वों का बढ़ते जाना निश्चय ही हमारे राष्ट्रीय दुर्भाग्य का द्योतक है।

भ्रष्टाचार आज सीधे लेन-देन के रूप में ही नहीं रहा, वरन् अन्य कई तरीके काम में लाये जाते हैं। अपने भाई-भतीजे, रिश्तेदारों को सरकारी सुविधाएँ देना, अपने पद के प्रभाव का उपयोग करके किसी से कोई नाजायज सुविधा प्राप्त करना, किसी भी रूप में कोई भेंट स्वीकार करना, यहाँ तक कि बिना मूल्य चुकाये अपने प्रभाव के कारण किसी वस्तु को ग्रहण करना भी भ्रष्टाचार के ही रूप है।

हमारे सामाजिक जीवन में भी अपराध की स्थिति कुछ कम नहीं है। गुंडागर्दी, चोरी, उठाईगीरी, ठगी, जालसाजी, ने हममें सुरक्षा को शंकालु बना दिया है। आज हमारी बहन-बेटियाँ गली-कूँचों में दूसरे स्थानों में आने-जाने में भय और संदेह का अनुभव करती हैं। अपने जान-माल की रक्षा के प्रति हम सशंकित रहते हैं। आये दिन होने वाली लूटपाट, हत्या, डकैती, बलात्कार, अपहरण आदि की घटनायें हमारी इस सामाजिक बुराई का ही परिणाम है।

विभिन्न क्षेत्रों में फैली हुई उक्त बुराइयाँ, अपराध आदि मनुष्य एक ही प्रवृत्ति के विभिन्न रूप हैं। मनुष्य के मन में बैठा हुआ भ्रष्टाचार ही अवसर पाकर विभिन्न रास्तों से व्यक्त होता है। समस्या एक ही है, रूप उसके भिन्न-भिन्न हैं। व्यापारी अपने ढंग से भ्रष्टाचार करता है। सरकारी अफसर, नौकर अपने कुर्सी पर

बैठकर समाज को लूटते हैं, तो गुंडे बदमाश अपने ढंग से काम करते हैं।

रास्ता कोई भी हो, अपराध-अपराध ही है। वह हमारे समाज का एक कलंक तथा हमारी सभ्यता और संस्कृति के लिए अभिशाप है, क्योंकि जिस समाज के लोग अपने स्वार्थ लाभ के लिए काम करते हैं, अपने लिये दूसरों का शोषण करते हैं, किसी की मजबूरी से नाजायज लाभ उठाते हैं, अपना घर भरने, अपनी कोठियाँ बनाने के लिए दूसरों की पसीने की कमाई को छीनते हैं, वे सब समाजद्रोही हैं। ऐसे लोग जन-जीवन के लिए दीमक हैं, जो समाज की प्रगति, उन्नति और विकास के साधनों को पंगु बना देते हैं। उसे छिन्न-भिन्न करते हैं। लोक-जीवन को निरुत्साह और हीन बनाते हैं। ऐसे लोग किसी बाहरी खतरे से भी अधिक भयानक होते हैं समाज के लिए।

सभी क्षेत्रों में बढ़ते हुए इस भ्रष्टाचार ने हमारी जीवन पद्धति को बहुत क्लिष्ट, परेशानी-भरा बना दिया है। यही कारण है कि सब तरह के विकास होते हुए, जीवन-स्तर ऊँचा होने पर भी हमारी समस्यायें, उलझनें बढ़ती ही जा रही हैं। अशांति, संतोष तथा कष्ट बढ़ रहे हैं। देश की खुशहाली बढ़ाने के लिए योजनायें बनती हैं, टैक्स भी लगते हैं, किंतु भ्रष्टाचार एवं अनियमितताओं से योजनाएँ पूरी नहीं होती हैं, जो होती हैं, वे जल्दी ही समाप्त भी हो जाती हैं।

आवश्यकता इस बात की है कि भ्रष्टाचार किसी भी रूप में क्यों न हों, उसे दूर करने के लिए हमें सजग होना है, अन्यथा हमें एक बड़ी सामूहिक हानि उठानी पड़ेगी। हमारी व्यवस्था अस्त-व्यस्त होकर समाज छिन्न-भिन्न हो जायेगा। विश्रृंखल समाज जल्दी ही नष्ट भी हो जाता है। दूसरे लोग उस पर हावी हो जाते हैं। सभी विचारशील व्यक्तियों को जन-जीवन में से भ्रष्टाचार दूर करने के लिए आवश्यक प्रयत्न करना चाहिए। यह समाज की बहुत बड़ी आवश्यकता है आज।

खाद्यों में मिलावट की समस्या

देश में भ्रष्टाचार का अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि इसने लोगों को विवश करके अपने आधीन बना लिया है। लोग इसके इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि मिली, अशुद्ध एवं नकली चीजों पर संतोष करने लगे हैं और संतोष भी क्यों न हों ? जब जिंदगी की जरूरी चीजें अपने शुद्ध रूप में मिलना प्रायः असंभव-सा हो गया है, तब संतोष करने के सिवाय उनके पास दूसरा चारा ही क्या रह गया है ?

गैर तो गैर, भ्रष्टाचारी अपना शिकार बनाने में सगे-संबंधियों को भी नहीं छोड़ते। विचार करने पर इसके दो कारण समझ में आते हैं। एक तो यह है कि भ्रष्टाचारी विक्रेता शायद ही कोई शुद्ध चीज अपने पास रखते हैं। दूसरा, मिलावट उनके विचार में गैर मिलावट जैसी रम गई है। अभ्यास होते-होते अशुद्ध चीज का महत्त्व उनके लिए एक जैसा हो गया है, जिससे अपने किसी संबंधी को भी अशुद्ध चीज देने में उन्हें ऐसा भान नहीं होता, कि वे कोई गलत काम कर रहे हैं। इसके साथ उनकी एक कमजोरी और भी है—वह यह कि—यदि वह संबंधी के हित में अपनी चीज की अशुद्धता उस पर प्रकट करके देने से इनकार करता है, तो एक तो उसे उसकी दृष्टि में गिर जाने की आशंका रहती है, दूसरा—यह डर रहता है कि कहीं उसके संबंधी को यह गलतफहमी न हो जाए कि वह उसे चीज न देने के लिये वैसा बहाना बना रहा है। यह सब मानव जीवन के लिए कितना बड़ा अभिशाप है ? क्या किसी भ्रष्टाचारी को इसका एहसास हो पाता है ?

जिन बच्चों ने इस नकली, मिलावटी और भ्रष्टाचारी समय में जन्म लिया है, उन्हें तो छोड़ ही दीजिये। जिन लोगों ने कभी असली, अच्छी चीजें देखी और उपयोग की हैं, उनकी भी अभिभूत बुद्धि और पराभूत स्वाद-शक्ति आज असली-नकली में पहचान नहीं कर पा रही है। लोग असली, शुद्ध और अच्छी चीजों के लिए

प्रयत्न करते, रोते-झींकते, खीजते और शिकायत करते हैं, किंतु कितनों को इस क्षेत्र में कोई सुझाव मिल पाता है ?

खाद्य-पदार्थ मनुष्य जीवन की सबसे सामान्य एवं अनिवार्य वस्तु है। इस पर ही जीवन की सारी गति निर्भर है। बल, बुद्धि, विद्या, ओज-तेज और शक्ति-सामर्थ्य का मूलभूत हेतु भोजन ही तो है। जितना शुद्ध, पौष्टिक और विश्वस्त आहार मिलेगा, मनुष्य उतना ही स्वस्थ एवं सामर्थ्यवान् बनेगा। उसका बल-वीर्य बढ़ेगा, बौद्धिक एवं मानसिक विकास होगा। जिससे तदनुरूप स्वस्थ एवं सुंदर समाज का निर्माण होगा, जो कि राष्ट्रीय हित में एक वरदान ही माना जाएगा। इस प्रकार जब खुले दिमाग से गहराई के साथ सोचते हैं, तब यही निष्कर्ष निकलता है कि, व्यक्ति से लेकर राष्ट्र तक की उन्नति एवं विकास का एक प्रमुख आधार शुद्ध भोजन भी है।

किंतु उसी भोजन के खाद्य-पदार्थों की आज भ्रष्टाचारी विक्रेताओं, व्यापारियों तथा व्यवसायियों ने क्या दुर्दशा कर दी है ? इसको देखकर दुःख के साथ क्षोभ भी होता है। जब कभी बाजार में खरे दाम होने पर भी खोटी चीज ही हाथ आती है तथा आत्मा को असहनीय क्लेश होता है। किंतु व्यवसायिक वातावरण कुछ इस प्रकार का हो गया है कि भ्रष्टाचार की पीड़ा को सहन करने की निरुपायता के अतिरिक्त इससे छुटकारे का कोई सीधा-सरल रास्ता ही समझ में नहीं आता।

खाद्यान्नों तथा अन्य जिन्सों में जो कूड़ा-करकट, ईंट-पत्थर, धूल-मिट्टी एवं अन्य बनैले बीज मिलाये जाते हैं और वस्तु के मूल्य पर ही दिये जाते हैं। वे किसी प्रकार परेशानी उठाकर श्रम और समय के मूल्य पर साफ भी किये जा सकते हैं। इससे आर्थिक हानि अवश्य होती है, किंतु स्वास्थ्य हानि से बचा जा सकता है। किंतु कुटी, पीसी, बनी तथा तरल पदार्थों की मिलावट से तो किसी प्रकार भी नहीं बचा जा सकता।

आटे में लकड़ी का बुरादा, सेलखड़ी अथवा अन्य प्रकार की मिलती-जुलती मिट्टी आदि मिलाकर पिसवा देने में भ्रष्टाचारियों को इस बात का जरा भी विचार नहीं हैं कि उनके इस दूषित आटे को खाकर उपभोक्ता परिवारों के स्वास्थ्य का क्या हाल होगा ? चने के साथ मटर और मटर के साथ मक्का पिसवाकर जनता को मूर्ख बनाने और उसको ठगने में भ्रष्टाचारी लज्जा के स्थान पर प्रसन्नता का अनुभव किया करते हैं। शक्कर तथा खांड़ अथवा बूरे में सफेट मिट्टी तथा गन्ने की खोई को पिसवाकर मिला देना तो बुद्धिमानी समझी जाने लगी है।

लाल मिर्च, काली मिर्च, सफेद मिर्च, धनियाँ, जीरा, हल्दी आदि मसालों में मिलाने के लिये मकोय आदि जैसे न जाने कितने जंगली बीजों, बेरों तथा कंकर-पत्थरों की खोज कर ली गई है, जो इन चीजों में मिलकर बिल्कुल अभिन्न हो जाते हैं।

पिसे मसालों के रूप में तो जनता को पचास प्रतिशत से अधिक जंगली बीजों, बेरों, पीली व काली मिट्टी का चूर्ण ही खाना पड़ रहा है। नमक के साथ पत्थर तो अक्सर आये दिन खाने पड़ते हैं।

घी, तेल, दूध, दही और इनसे बनी हुई चीजों में मिलावट तो भ्रष्टाचारियों का एक साधारण अधिकार बन गया है। दूध में पानी मिलाना, मक्खन निकालकर गाढ़ा करने के लिए अरारोट अथवा ऐसी ही कोई दूसरी चीज मिला देना तो मामूली बात बन गई है। रबड़ी में शकरकंद और मलाई के स्थान पर स्याही सोखता इस्तेमाल कर देना—कोई विशेष चिंता की बात नहीं रह गई है।

सरसों के तेल के साथ अलसी का और अलसी के साथ रेंडी का तेल मिला देना तो भ्रष्ट व्यापारियों ने अपना अधिकार मान लिया है। सरसों के साथ भटकटैय्या के बीज तो इस मात्रा में मिलाये जाने लगे हैं कि तेल की असलियत पर से जनता का विश्वास पूरी तरह से उठ गया है।

इसके अतिरिक्त अब तो भ्रष्ट व्यवसायियों ने मुनाफाखोरी-अक्ल के बल पर खाद्य तेलों के रंग और एसेंस तक का आविष्कार कर लिया है, जो न केवल अलसी के तेल में देकर सरसों का तेल बनाने के काम में आते हैं, बल्कि रिफाइंड आदि तेलों में देकर किसी प्रकार का भी तेल तैयार कर लिया जाने लगा है।

पृथ्वी पर अमृत कहे जाने घी को विष ही बना दिया गया है। अच्छे घी में डालडा, मूँगफली का तेल, चर्बी एवं अन्य जंगली जड़ों तथा वनस्पतियों का घी मिलाना कोई पाप नहीं माना जाता है। इसके साथ देशी घी के भी ऐसे-ऐसे एसेंस बना लिये गये हैं, जिनको मिला देने पर डालडा, चर्बी अथवा मूँगफली का तेल असली घी को मात कर देता है। अच्छे से अच्छे बुद्धिमानों की घ्राण शक्ति उसका पता लगा लेने में असफल हो जाती है।

इस प्रकार भ्रष्टाचारियों ने कोई भी तो खाद्य पदार्थ ऐसा नहीं छोड़ा है, जिसमें मिलाने के लिये उसी प्रकार की चीजों की खोज न कर ली हो। एक तोला शुद्ध खाद्य पदार्थ मिल सकना असंभव बात हो गई है। इस कुकृत्य के साथ जो बात सबसे अधिक खतरनाक है वह यह है, कि मिलावट करने वाले रूप-रंग में मिलती-जुलती कोई भी चीज में निर्भयता के साथ मिला देते हैं। फिर चाहे वह चीज विष की तरह प्राणघातक ही क्यों न हो ?

खाद्य पदार्थों की इस दशा को देखते हुए आज भारतीय समाज की स्वास्थ्य-रक्षा की कल्पना कर सकना व्यर्थ जैसी बात मालूम होती है। भ्रष्टाचारियों, मुनाफाखोरों के धन-लोलुपों का यह भयंकर राष्ट्रघात कहाँ तक उन्हें ले जायेगा और कहाँ समाज को पहुँचा देगा ? यह सोचने-समझने की आज जैसे किसी को फुरसत ही नहीं रह गई है।

एक तो यों ही सदियों की गुलामी ने राष्ट्र के स्वास्थ्य को चौपट कर दिया था और जो कुछ बचा भी था—उसे यह भ्रष्टाचारी ठिकाने लगाये दे रहे हैं। सरकार बहुत कुछ नियंत्रण करती, दंड

देती, लगाम लगाती है, किंतु समाज एवं राष्ट्र के शत्रु ये निर्लज्ज भ्रष्टाचारी 'मुँह जोर तुरंग' की भाँति कोई नियंत्रण मानते ही नहीं।

किंतु वह दिन दूर नहीं जब इनकी आँखें पूरी तरह खुल जायेंगी। जब वक्त का तमाचा इनके मुँह पर लगेगा और जनता इनका बहिष्कार करके नैतिक न्यायालय में इनको दंड देगी। इसलिए उचित यही है कि वक्त का तमाचा मुँह पर लगने से पहले भारत के भ्रष्टाचारी सोचें, समझें और अपने राष्ट्रीय कर्तव्य का ठीक-ठीक पालन करें।

इसके साथ जनता के सामने इस मिलावट के अभिशाप से अपने स्वास्थ्य की रक्षा करने का केवल एक ही उपाय है। वह यह कि वह किसी भी प्रकार की पिसी, कुटी चीजें इस्तेमाल करना छोड़ दें। हल्दी, मिर्च, धनियाँ आदि मसाले अच्छी तरह से देखभाल कर लायें और उनको घर पर कुटवायें। आटों के स्थान पर गल्ला-मोल लें और जहाँ तक हो सके घर पर हाथ की चक्की से पिसवाकर प्रयोग करें अन्यथा बाजार वाली चक्कियों पर अपने सामने पिसवाया करें।

जहाँ तक दूध, दही, घी तथा तरल एवं स्निग्ध पदार्थों का प्रश्न है, इनके लिए छोटे-मोटे जानवर पालें और जिन चीजों के बिना काम चल सकता हो, उनका प्रयोग करना त्याग दें। साथ ही भ्रष्टाचारियों का अधिक से अधिक बहिष्कार करें और अपनी स्वाद वृत्ति पर अंकुश लगायें।

हम विदेशी सहायता के आश्रित

एक समय था जब केवल वीरता की लड़ाई हुआ करती थी। दोनों सेनायें एक स्थान पर एकत्रित होती थीं और साधारण अस्त्र-शस्त्रों से लड़ा करती थीं। तब युद्ध में सिपाहियों का साहस, रणकौशल स्वास्थ्य और शौर्य ही विजय के लिए प्रमुख हुआ करते थे। जिस राज्य की सेना इन गुणों से परिपूर्ण होती थी—विजय श्री प्रायः उन्हीं के हाथों लगती थी। अस्त्र-शस्त्रों के घटिया या बढ़िया होने का प्रश्न उस समय अधिक महत्त्व नहीं रखता था।

किंतु सन् १९६२ के चीनी आक्रमण ने यह सिद्ध कर दिया कि इस युग में सैनिकों का मनोबल ऊँचा होना ही युद्ध की विजय के लिए पर्याप्त नहीं, वरन् अब लड़ाई साधनों की अपेक्षा करती है। वही देश विजय पाते हैं, जो युद्ध के प्रत्येक साधन आवश्यकतानुसार पूरे कर सकने में समर्थ होते हैं। इस युद्ध में जहाँ चीनी फौजें बढ़िया किस्म की रायफलों, मशीनगनों, मोर्टारों और टैंकों से लैस थीं, वहाँ भारतीय सैनिकों के पास पूरी तौर पर "थ्री नाट थ्री" राइफलें भी उपलब्ध न थी।

चीनी आक्रमण के बाद देश की राजनीति ने सुरक्षा की दिशा में एक नया मोड़ लिया। सुरक्षा के अधिक से अधिक साधन जुटाये गये। सिपाहियों को सभी प्रकार के युद्ध उपकरण से सुसज्जित किया गया। इसके सत्परिणाम भी जल्दी ही दिखाई दिये। इस युद्ध में पाकिस्तान को मुँह की खानी पड़ी, उसमें हमारे सैनिकों की वीरता तो थी ही, पर विजय के कारणों में एक बात यह भी थी कि सैनिकों को पूरी सैन्य-सामग्रियाँ समय पर उपलब्ध की जाती रहीं, इसी से वे आत्म-विश्वासपूर्वक लड़ सके और शत्रु पर विजय प्राप्त कर सके।

पर इस युद्ध से हमें एक नया पाठ पढ़ने को मिला। युद्ध के दौरान भारत पर जो कूटनीतिक अडंगेबाजी डाली गई, उसने यह सिखाया कि विदेश नीति में स्वतंत्रता रखनी हो तो देश को प्रत्येक क्षेत्र में आत्म-निर्भर होना चाहिए। अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण हो अथवा खाद्य या औद्योगिक उत्पादन—पूरी तौर पर आत्म-निर्भर हुए बिना राष्ट्र की स्वतंत्रता, सम्मान और प्रादेशिक अखंडता की रक्षा नहीं की जा सकती। जिसे बात-बात पर दूसरों का मुँह ताकना पड़े, वह अपनी स्वाधीनता को स्थिर नहीं रख सकता; यह बात उस समय समझ में आई जब युद्ध के प्रश्न को लेकर अमेरिका और ब्रिटेन से देश को हथियारों की सप्लाई बंद कर दी गई। रूस को छोड़कर कोई दूसरा देश हमारी सहायता को तैयार न हुआ। यदि उस समय हमारे अपने निर्माण के कुछ अस्त्र-शस्त्र मौजूद न होते, तो क्या शक था इस युद्ध में हमें पराजय का मुँह देखना पड़ता या

विदेशी दबाव के आगे झुकना पड़ता और कुछ प्रभावशाली देश जैसा कहते वैसा करना पड़ता। अमेरिका ने एक और धमकी देकर इस बात को पूर्णतया स्पष्ट कर दिया। कश्मीर के मामले में दबाव डालते हुए पी० एल० ४८० के समझौते के अंतर्गत मिलने वाले खाद्यान्न को देने पर पाबंदी लगा दी। इस धमकी का स्पष्ट आशय यह है कि—"तुम हमारी बात मानो, कश्मीर पाकिस्तान को दे दो, अन्यथा तुम्हें भूखों मरना पड़ेगा।"

सौभाग्य से समय रहते देश चेत गया और स्वावलंबन की दिशा में मजबूत कदम उठाया। आवश्यक सामान का उत्पादन देश में ही शुरू कर दिया गया, उसके कारण हमारी शक्ति बढ़ी। रक्षा उत्पादन के मामले में हमारे प्रयोग शत-प्रतिशत सफल हुए हैं। उदाहरण के लिये भारत में बने "नैट" विमानों की सफलता पर प्रसन्नता पर गर्व अनुभव किया जा सकता है। जिस समय भारत में इनका निर्माण किया जा रहा था, उस समय विदेशी बुद्धिमानों ने भारत का मजाक उड़ाया था और यहाँ तक कहा गया था कि भारत के यह प्रयत्न शायद कारगर न हों, पर हाँ, यदि वह पश्चिमी गुट में शामिल हो जाता है तो निश्चय ही उसकी सैनिक शक्ति मजबूत की जा सकती है। हमारे निर्माण को उस समय अपव्यय कहा गया, पर इस युद्ध में इन विमानों ने जिस तरह अमेरिका में बने सेबर जेटों का मान भंग किया, उसे देखकर संसार आश्चर्यचकित रह गया।

इस बात की पुष्टि स्वयं पाकिस्तान के ब्रिटेन स्थित उच्चायुक्त आगा हिलाली ने की। उन्होंने कहा—"युद्ध यदि लंबा हुआ तो भारत की जीत सुनिश्चित है; क्योंकि वह सैनिक उपकरणों की ८० प्रतिशत मात्रा स्वयं तैयार कर लेता है, जबकि पाकिस्तान इस संबंध में पूर्णतया पराश्रित है।" इस वक्तव्य से भारत-पाक की लड़ाई की पूरी स्थिति प्रकट हो जाती है, साथ यह प्रेरणा मिलती है कि, शेष २० प्रतिशत सामान का निर्माण-कार्य भी जल्दी ही प्रारंभ कर देना चाहिये, क्योंकि जो देश पूरी तौर पर

आत्म-निर्भर होते हैं—वे ही विदेशी दबाव में आये बिना लंबी लड़ाई लड़ सकते हैं।

जिन दिनों कानपुर में 'एवरो' विमान के निर्माण की चर्चा हो रही थी उन दिनों भी विदेशों में रक्षामंत्री श्री कृष्णमेनन का बड़ा उपहास किया गया था। हमारे विमान अच्छे हैं या घटिया किस्म के, हम इस गहराई में नहीं जाना चाहते, पर इतना तो स्पष्ट है कि आवश्यकता पड़े तो नष्ट हुए विमानों की क्षतिपूर्ति में हमें कम से कम समय लगेगा और हमें युद्ध बंद करने की आवश्यकता न पड़ेगी, जबकि पाकिस्तान को उसके लिए औरों का मुँह ताकना पड़ेगा।

हमारी आत्म-निर्भरता हर क्षेत्र में कामयाब रही है। लाहौर क्षेत्र पर जब भारतीय सेनायें आगे बढ़ रहीं थीं—उस समय ब्रिटेन ने तेल की सप्लाई बंद कर देने की धमकी दी थी। युद्ध में टैंकों के परिचालन में बहुत तेल जलता है। मोटरों और जीपों में भी तेल और पेट्रोल की भारी खपत होती है। ब्रिटेन की इस धमकी को यदि क्रियान्वित कर दिया जाय तो हमारे ऊपर उसका वैसा असर न पड़ेगा, जैसा कि पाकिस्तान पर। तेल की कमी के कारण पाकिस्तान में विदेशी जहाजों को करांची में उतरने की अनुमति नहीं थी, बाजार में भी उसका कंट्रोल लगा दिया गया था और उसकी बिक्री पर भी रोक लगवा दी गई थी।

सौभाग्यवश हमारे देश में मिट्टी तेल के उत्पादन के पर्याप्त स्रोत ढूँढ़ लिये गये थे। रुद्र सागर, खंभात, मोरान, अंकलेश्वर तथा आसाम के अन्य क्षेत्रों में तेल का पता लगा लिया गया था और बरौनी, दिगबोई, विशाखापत्तनम तथा बंबई आदि स्थानों में रिफाइनरिंग की व्यवस्था कर दी गई थी। फलस्वरूप समय पर आवश्यक तेल की मात्रा उपलब्ध होती रही और उसकी कमी के कारण लड़ाई में अड़चन आने की कोई बाधा न पड़ी। ब्रिटेन की यह धमकी कि—"तेल बंद कर को, युद्ध अपने आप बंद हो जायेगा।" इसका हमारे ऊपर कोई असर न हुआ।

रूपनारायणपुर में भारत ने विशाल केबुल कारखाना खड़ा किया है, बंगलौर तथा जबलपुर में टेलीफोन उद्योग सफलतापूर्वक चल रहा है। भले ही शांति प्रयोगों के लिए हो, पर आणविक शक्ति का निर्माण भी यहाँ प्रारंभ हो चुका है। तारापुर तथा ट्रांबे की अणु भट्ठियों से प्लूटोनियम की इतनी मात्रा उपलब्ध हो जाती है, जिससे आवश्यकता पड़ने पर भारतवर्ष प्रति वर्ष कम से कम दो अणुबम बना सकता है। इसी प्रकार प्रकार भारत में बनी "शक्तिमान्" ट्रकें तथा "निशान" और "झोंगा" जीपें भी सामरिक दृष्टि से वरदान सिद्ध हुई हैं। इनसे न केवल विदेशी मुद्रा की बचत हुई, अपितु समय पर आवश्यकता की पूर्ति की सुविधा भी बढ़ी है।

हमारा छोटा-बड़ा कोई भी उत्पादन बेकार नहीं गया, यह निर्विवाद सत्य है। पर एक बात और भी महत्त्वपूर्ण है जिस पर अभी ध्यान देने की आवश्यकता है, वह बात यह है कि आजकल के युद्ध केवल सीमा क्षेत्रों पर ही नहीं लड़े जाते, वरन् उस युद्ध में प्रत्येक नागरिक का काम होता है। फैक्टरियों के रक्षा उत्पादन में अस्त्र-शस्त्रों की बात पूरी हो जाती है, पर सैनिकों के लिये अन्न और वस्त्रों की भी पर्याप्त व्यवस्था होनी आवश्यक है। एक सिपाही के साथ अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्र के सभी वर्ग के लोग लड़ते हैं, तब कामयाबी होती है। फैक्ट्री के कर्मचारी लड़ाई का सामान बनाकर देते हैं। मिल मजदूर कपड़ा बुनकर देते हैं, किसान अन्न पैदा कर भोजन की व्यवस्था करते हैं। यह तीन आवश्यकतायें सिपाही से सीधा संबंध रखती हैं, अतः इन उत्पादनों से पूरी तौर पर आत्म-निर्भर होने की आवश्यकता है।

इसके अतिरिक्त रेलें मोर्चों तक समान पहुँचाती हैं, मोटरें भी इस काम में प्रयुक्त होती हैं। मशीनों से सैनिकों के कपड़ों की सिलाई व मजबूत जूतों की आवश्यकता होती है और उसके लिए देश के बच्चे-बच्चे को एक-जुट, एक-मन, एक-प्राण होकर काम करने की आवश्यकता है। हर व्यक्ति अपने कर्तव्य का समुचित पालन करेगा तो देश हर मोर्चे पर विजय प्राप्त करेगा।

हम शस्त्रों के लिए किसी के मुँहताज न रहें

युद्ध में व्यूह-रचना का महत्त्व प्राचीन काल से चला आ रहा है। जो देश इस विद्या में जितना अधिक पटु होता है, उसकी विजय उतनी असंदिग्ध मानी जाती है। जनरलों (सेनापतियों) का महत्त्व इसी दृष्टि से है। प्राचीन काल में चक्रव्यूह तथा पिपीलिका व्यूह आदि के वर्णन मिलते हैं। वैसी रचनायें तो अब संभव नहीं, पर स्थल, जल और वायु सेना की सम्मिलित व्यूह रचना का महत्त्व आज भी बहुत अधिक है। सेना की विजय इन तीनों अंगों की सुचारु व्यवस्था, साधन और सुदृढ़ता पर निर्भर करती है।

लड़ाइयों की विजय सेनाओं के कुशल प्रशिक्षण पर ही अवलंबित नहीं; सिपाहियों के मनोबल, साहस, चातुर्य और संगठन के साथ-साथ उनके पास लड़ाई के अच्छे और आधुनिकतम अस्त्र-शस्त्रों का होना भी नितांत आवश्यक है। इस युद्ध ने एक और शिक्षा दी और वह यह कि इन उपकरणों के लिए औरों के आश्रित रहना युद्ध में विजय के लिए भयावह बात है। स्थल सेना की मजबूती के लिए बंदूक से बख्तरबंद गाड़ियों तक की युद्ध के दौरान निरंतर सप्लाई आवश्यक है। लड़ाई होती है तो दुश्मन की ही क्षति नहीं होती। अपने भी टैंक टूटते हैं, अपनी मोटरगाड़ियाँ, जीपें और संचार व्यवस्थायें भी नष्ट होती हैं। इनकी तत्काल पूर्ति होती रहे तो फिर विजय सुनिश्चित अवश्य हो जाती है।

लड़ाकू विमान और उनसे संबंधित संपूर्ण आवश्यकताएँ, समुद्री जहाज, पनडुब्बियाँ, रडार आदि से जहाँ वायु सेनायें और जल सेना युद्ध करती हैं, वहाँ इनके नष्ट होने पर तत्काल दूसरे अस्त्र तैयार रखने की बड़ी आवश्यकता है। आज की लंबी चलने वाली लड़ाइयाँ तभी जीती भी जा सकती हैं।

भारत में प्रतिरक्षा की दिशा में सोचने, विचारने और तैयारी करने का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य यह रहा है कि इनके लिये पराश्रित न हुआ जाए। दूसरे यथासंभव अधिक से अधिक सामान तैयार किये जाय, ताकि संकटकालीन स्थिति में दूसरे का मुँह न

देखना पड़े। यह कदम वास्तविक भी है और प्रसन्नता की बात यह है कि इस दिशा में हम लगभग ८० प्रतिशत आत्म-निर्भरता प्राप्त भी कर रहे हैं।

सन् १९६२ के चीनी हमले के बाद से ऑटोमेटिक रायफलें, उनका गोला बारूद, कारबाइन (छोटी बंदूकें) हैवी मोर्टार, टैंकभेदी तोपें, पहाड़ी तोपें तथा वायुयान की तोपों का गोला बारूद के कई कारखाने यहाँ खोले गये, जो अहर्निश अपना उत्पादन चला रहे हैं। इस दिशा में कितना ही लंबा युद्ध हो, सामान की कमी न पड़ेगी, ऐसा विश्वास किया जा सकता है।

इस उत्पादन की क्षमता को भी बढ़ाया जा रहा है। सन् १९६३-६४ में हमारा उत्पादन १११.३४ करोड़ रुपये का हुआ जबकि सन् १९६१-६२ मे कुल ४१.८८ करोड़ रुपये मूल्य का ही सामान तैयार किया गया। पिछले तीन वर्ष की अवधि में तीन कारखानों को बढ़ाकर सात कर दिया गया। यह कारखाने युद्ध में प्रयुक्त होने वाले विस्फोटक पदार्थों से लेकर केबुलों तक का निर्माण करते हैं। प्रतिरक्षा उत्पादन मंत्रालय के अनुसार—संभवतः अगले दशक तक भारत विश्व का सर्वशक्तिमान् राष्ट्र होगा।

प्रतिरक्षा सामग्री के निर्माण में जीपें, ट्रकें तथा भारी शस्त्र भी आते है। इस दिशा में हमने उल्लेखनीय प्रगति की है। हमारे अपने निर्माणगृहों से अब तक अधिकांश भारतीय पुर्जों द्वारा बनाई गई ११२०० "निसान" ट्रकें ५६०० से अधिक "शक्तिमान्" गाड़ियाँ तथा ४५०० "निसान" पेट्राल जीपें तैयार की गई हैं, जो आवश्यकताओं की पूर्ति में विदेशी ट्रकों तथा जीपों से अधिक हल्की, कम ईंधन प्रयुक्त होने वाली तथा अधिक उपयोगी सिद्ध हुई हैं। सरकार इनके अधिकतम निर्माण के लिए एक "कंपोजिट व्हीकल फैक्टरी" खोलने पर विचार कर रही है। इन कारखानों से सीमांत सड़क संगठन के उपयोग के लगभग हजारों ट्रेक्टर भी बनाये जा चुके हैं, जो इस समय अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने में संलग्न हैं।

अपने सफल प्रयोग के बाद विशुद्ध भारत निर्मित टैंक "विजयंत" शीघ्र ही रणक्षेत्र में तैनात है। यह टैंक अमेरिकी पैटर्न, सफी, संचोरियन अथवा चर्चिल टैंकों से भी अधिक कारगर और आधुनिकतम हैं। आदमी उतारने वाली छतरियों का निर्माण तथा वायुयान से जीपें गिराने के लिए एक "पैक प्लास्टर" बनाने का काम भी भारतवर्ष में प्रारंभ कर दिया गया है।

इनके अतिरिक्त जवानों के लिए गर्म वस्त्र, पर्वतारोहण के वस्त्र और उपकरण, शस्त्रास्त्रों के पुर्जे तथा इंजीनियरिंग के सामान का उत्पादन भी यहाँ हो रहा है। पूरी योजना अपनी शक्ति से काम करने लगेगे तो देश न केवल स्थल सेना की सब आवश्यकताओं के लिये आत्म-निर्भर हो जायगा, वरन् इनका निर्यात भी प्रारंभ कर दिया जायगा।

प्रतिरक्षा उत्पादन में उड्डयन उपकरणों का महत्त्व और भी अधिक हैं। अभी तक हम इस संबंध में अधिकांश विदेशियों पर निर्भर रहें हैं, पर पिछले दिनों इस क्षेत्र में भी हमने उल्लेखनीय प्रगति की है। हाल की लड़ाई में भारत में "नैट" विमानों ने दुनिया को आश्चर्य में डाल दिया है। बंगलौर में बनने वाले इस विमान का उत्पादन अब और भी अधिक बढ़ा दिया गया है।

"नैट" रफ्तार में सैबर जेट से भी तेज है। यह ७०० मील प्रति घंटा की रफ्तार से और १५,००० मीटर की ऊँचाई तक उड़ सकता है। ३० मिलीमीटर की दो तोपें भी फिट होती हैं, जो एक बार में १०० से अधिक गोले दाग सकती हैं। बम फेंकने, राकेट चलाने, दिशा व दूरी नापने के यंत्रों से यह पूरी तरह लैस होता है।

नैट के अतिरिक्त वैंपायर, हंटर तथा मिस्टीयर्स विमानों का प्रयोग भी इस युद्ध में हुआ। एच० एफ० तथा कैनबेरा लड़ाकू विमानों की भी साझेदारी रही। वैंपायर विमान भी भारत में बने हैं, पर चूंकि नैट विमान अधिक उपयोगी सिद्ध हुये हैं, इनका उत्पादन अब बंद कर दिया गया है। एच० एफ० १०४ का निर्माण भी यहीं हुआ किंतु उपयुक्त इंजन न तो ब्रिटेन से ही मिल सका और न ही

संयुक्त अरब गणराज्य से मिल सका अतः इसका उत्पादन बंद कर दिया गया है।

मिग २१ विमान दुनिया के शक्तिशाली विमानों में गिना जाता है। इसके निर्माण के लिए हैदराबाद, कोरापूत और नासिक में तीन कारखाने खोले गये हैं।

प्रशिक्षण देने के लिए एच० टी० २ और हिंदुस्तान जेट ट्रेनर १६ एच० जे० टी० १६ तथा एवरो ७४८ का उत्पादन भी हमारे यहाँ ही हो रहा है। एवरो ४७८ भारी माल ढोने का काम करता है। आरनुस्ते हैलीकौप्टर का निर्माण कार्य भी जल्दी ही प्रारंभ कर दिया जा रहा है।

इन विमानों का उत्पादन बंगलौर की "हिंदुस्तान एयर क्राफ्ट लि० कंपनी" कर रही है। इस कंपनी को सन् १९६४ में हिंदुस्तान एयरोनॉटिक्स लिमिटेड से संयुक्त कर दिया गया है। कानपुर में भी ऐसा ही कारखाना चल रहा है। बंगलौर की "एयरोनॉटिक्स" ट्रान्समीटर, रडार और विभिन्न कलपुर्जे भी बनाती है। इनमें ट्रांजिस्टर, कॉपीसेटर, वाल्ब तथा क्रिस्टल आदि सम्मिलित हैं, यह सभी इलेक्ट्रॉनिक उपकरण वायुयानों के उपयोग में आते हैं।

वायु सेना के क्षेत्र में भारत ने विश्व में कीर्तिमान् स्थापित किया है। अब अग्नि, पृथ्वी, नाग, त्रिशूल, सूर्य जैसे प्रक्षेपास्त्र विदेशी राष्ट्रों को आश्चर्यचकित करने वाले हैं। इनकी मारक क्षमता ४५०० किलोमीटर तक की है। प्रक्षेपण करने वाले यान तो विशेष आश्चर्यजनक हैं—जो अनेकों बार प्रयुक्त किये जा सकते हैं। साथ ही साथ उनका विमानन में भी प्रयोग होगा।

नौ-सैना की आवश्यकताओं की पूर्ति का भी पूरा ध्यान दिया गया है, क्योंकि यह युद्ध का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंग बन गया है। अंग्रेजों के खिलाफ हिटलर की पराजय का मुख्य कारण उसकी कमजोर नौ-सेना बतलाई जाती है। संतोष है कि समुद्री जहाजों के निर्माण और उनकी मरम्मत पर भी वैसा ही ध्यान दिया गया है। यह कार्य बंबई में मजगाँव डेक तथा कलकत्ते की "गार्डन रीच

वर्कशाप" में प्रारंभ हुआ है। यह दोनों संस्था इंजीनियरिंग उपकरणों का भी निर्माण करते हैं, जो जलसेना के बेड़े में प्रयुक्त होते हैं। समुद्री डीजल इंजन तथा एयर कंप्रेसरों का उत्पादन भी कंपनियाँ करती हैं।

भारत के मुकाबले पाक चीन की साँठ-गाँठ को देखते हुए यह निर्माण कार्य आवश्यक भी है और उपयुक्त भी। हम आत्म-निर्भर हुये बिना किसी देश का सफलतापूर्वक मुकाबला नहीं कर सकते थे, पर इस आत्मनिर्भरता को देखते हुए यह विश्वास हो गया है कि भारत किसी भी भावी आक्रमण का मुकाबला सफलतापूर्वक कर लेगा। व्यूह रचना के लिए औरों का मुँह न ताकना पड़ेगा।

बढ़ता मूल्य और गिरता स्तर कैसे रुके ?

विकृतियों को रोकने का एक कारगर उपाय प्रतिद्वंद्विता उत्पन्न करना है। बाजार भाव प्रतिस्पर्धा के आधार ही स्थिर रहते हैं। एकाधिपत्य जब कहीं भी होगा, भ्रष्टता उत्पन्न करेगा। खाद्य व्यापार के संबंध में भी यही उपाय बरता जाना चाहिए। आजकल की संकटपूर्ण घड़ियों में तो यह और भी अधिक आवश्यक है।

वस्तुओं की कमी होने पर, जब उनका मिलना कठिन होता है, तो जनता में आगे चलकर उन वस्तुओं के न मिलने की आशंका उत्पन्न हो जाती है और घबराहट में लोग अनावश्यक खरीद करने लगते हैं। इस बढ़ी हुई माँग और वस्तुओं की कमी से संतुलन बिगड़ जाता है। इस अवसर का लाभ व्यापारी लोग वस्तुएँ छिपाकर उठाते हैं। चीजें नहीं मिलतीं तो मुँह माँगा दाम माँगा और वसूल किया जाता है। कंट्रोल लगाने की खबर से ऐसी ही हड़बड़ी उत्पन्न होती है। वस्तुएँ सस्ती होने की अपेक्षा वे बाजार से ही गायब हो जाती हैं और तब मुँह माँगे मोल पर गुप्त रूप से खरीदना पड़ता है।

इसी प्रकार एक दूसरी गड़बड़ी यह होती है कि वस्तुएँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं, जिनकी न तो लागत बढ़ी है और न

किसी प्रकार की कमी है, उन्हें भी महँगाई की हवा में व्यापारी लोग महँगा कर लेते हैं। इससे उपभोक्ता का भार और भी बढ़ जाता है।

इन दिनों कठिनाइयों को हल करने का एक सीधा उपाय यह है कि खाद्य पदार्थों को उपलब्ध करने की छोटी-छोटी दुकानें सहकारिता के आधार पर चालू कर दी जायें। कई नगरों में इस प्रकार के प्रयास आरंभ भी हुए हैं और उनका अच्छा परिणाम भी सामने आया है।

दिल्ली ने इस संबंध में अच्छा मार्गदर्शन किया है। वहाँ हर मुहल्ले में चलती-फिरती दुकानें सहकारिता के आधार पर खोली गई हैं, जिनमें—दालें, शाक, भाजी, मसाले, दूध आदि दैनिक आवश्यकता की वस्तुओं को ढकेल गाड़ियों पर लाद-लाद कर उचित मूल्य पर मुहल्ले-मुहल्ले में पहुँचाना आरंभ किया है। नियत समय पर यह गाड़ियाँ नियत स्थानों पर पहुँच जाती हैं और उस मुहल्ले के लोग अपनी जरूरत की वस्तुएँ खरीद लेते हैं। महँगाई की हवा का लाभ उठाकर जबकि साधारण शाक-भाजी एक रुपया किलो के भाव बिकने लगे थे, तब उन्हीं चीजों को सीधा उत्पादकों से खरीदकर चलती-फिरती दुकानों ने आधे भाव में बेचा। विक्रेता लोग जो ढाई गुना मुनाफा कमा रहे थे, उस पर रोक लगी और प्रतिद्वंद्विता में उन दुकानदारों को भी दाम गिराने पड़े।

इसी प्रकार वहाँ चाय-काफी वालों ने दाम बढ़ा दिये थे। इनके मुकाबिले सड़कों पर चलती-फिरती दुकानों ने उसी स्तर की चाय आधी कीमत में बेचनी आरंभ कर दी। जनता ने उसे पसंद भी किया। होटल वालों की बिक्री घटी और उन्हें फिर पहले भावों पर लौटने के लिए विवश होना पड़ा। तैयार रोटी, दाल-शाक की सस्ती दुकानें जगह-जगह खुली हैं और उनमें कुछ रुपये में भर-पेट भोजन करा दिया जाता है। इतनी महँगाई होते हुए भी इन भोजनालयों को कोई घाटा नहीं पड़ता।

यों ऐसे प्रयत्न कोई सेवाभावी उदार व्यक्ति एकाकी भी चला सकते हैं। इसमें उनका नुकसान नहीं पड़ेगा, केवल समय ही सस्ते

मोल में लगाना पड़ेगा। मोटा नफा न लेकर मंजूरी मात्र लेना जिन्हें मंजूर हो, वे अकेले भी ऐसी लोकोपयोगी कार्य आरंभ कर सकते हैं। पर अच्छा तरीका मिल-जुलकर सहकारिता के आधार पर काम चलाने का ही है। इससे लोगों को सहकारिता का महत्त्व मालूम पड़ता है, पूँजी जुटाने में कठिनाई नहीं पड़ती और अनेक व्यक्तियों की देखभाल रहने से एक व्यक्ति को लाभ मिलने का प्रलोभन न रहने से—गड़बड़ी की भी संभावना कम ही रहती है।

सस्ते के साथ में एक प्रश्न अच्छे का भी है। सस्ती खाद्य वस्तुएँ तो बाजार में अक्सर मिल जाती हैं, पर स्तर की दृष्टि से वे इतनी घटिया होती हैं कि उन्हें खाना भूखे रहने से भी अधिक हानिकारक सिद्ध होता है। सड़ी-गली, बुरी-भली चीजों से जो भोजन बनाया गया होगा, वह देखने भर का मिष्ठान्न पकवान हो सकता है, वस्तुतः उसे खाना शरीर में अनेक रोगों को खुला निमंत्रण देने की बराबर हानिकारक होता है। इसलिए जितना खाद्य पदार्थों का सस्तापन आवश्यक है, उतना ही यह भी आवश्यक है कि स्तर की दृष्टि से वे वस्तुएँ सड़ी-गली अस्वास्थ्यकर चीजों से गंदे-घिनौने तरीकों से—मैले बर्तनों में, बीमार आदमियों द्वारा न बनाई गई हों। तैयार भोजनों के संबंध में ऐसी सावधानी का रखा जाना भी जरूरी है। इस आवश्यकता को सहकारी प्रयत्नों से ही पूरा किया जा सकता है। व्यापारी प्रतिद्वंद्विता के भय से चीजों के दाम तो सस्ते रख सकते हैं, पर स्तर की बात जो आसानी से छिपाई जा सकती है—पहचानने में नहीं आती—उसे सुधार कर अपना मुनाफा कम करेंगे, ऐसी आशा नहीं की जा सकती। यह कार्य जनता को अपने हाथों में ही लेना पड़ेगा। सहकारिता के आधार पर कच्चे तथा पके हुए खाद्य पदार्थों को स्तर की दृष्टि से अच्छा और मूल्य की दृष्टि से सस्ता रखते हुए जनता को उपलब्ध कराने का कार्य आज की सबसे बड़ी आवश्यकता है। अस्तु लोकसेवी व्यक्तियों को इसके लिए जगह-जगह प्रयत्न करना चाहिए और संकटग्रस्त जनता की सहायता के लिए उदार सुविधा उत्पन्न करने का श्रेय-साधन जुटाने में उत्साह दिखाना चाहिए।

हर व्यापार व्यक्तिगत हाथों में रहे, इसमें कुछ हर्ज नहीं। पर जब उसमें अवांछनीय गड़बड़ी उत्पन्न हो जाय तो उसकी रोक-थाम भी होनी चाहिए। खाद्य व्यापार में संलग्न व्यक्तियों को ईमानदार और देश-भक्त बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि उनका एकाधिकार समाप्त हो और प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़े। उपभोक्ता को न सहकारी दुकान से दोस्ती होती है, न व्यापारी से दुश्मनी। जहाँ भी अच्छी और सस्ती चीज मिलेगी, वहीं वह लेगा। ऐसी प्रतियोगिता सहकारिता के आधार पर खड़ी की जानी चाहिए, ताकि किसी को भी अनुचित लाभ उठाने का अवसर न रहे।

इस व्यवस्था के अंतर्गत यह सोचना ठीक नहीं कि किसी की रोजी छिनेगी। वरन् सही बात तो यह है कि और भी अधिक लोगों को काम मिलेगा। थोक व्यापारी बड़े साधनों से बड़ी व्यवस्था एक ही जगह जमा लेता है, पर छोटे प्रयत्नों से अधिक व्यक्तियों का, अधिक साधनों का प्रयोग करना पड़ता है, इसलिए मिल के कपड़ों की अपेक्षा खादी पहनने से जिस प्रकार अधिक संख्या में अधिक गरीबों को रोटी मिलती है, ठीक उसी प्रकार इन सस्ती सहकारिता की दुकानों से अधिक लोगों को अधिक काम मिलेगा।

खाद्य पदार्थ सुलभ करने के लिए—उनकी अच्छाई और सस्तापन बनाये रखने के लिए इस प्रकार के सहकारी प्रयत्नों का देशव्यापी अभियान आरंभ किया जाना चाहिए। यद्यपि यह आर्थिक कार्यक्रम है, पर इसके पीछे एक ऐसी महत्त्वपूर्ण परंपरा विद्यमान है, जिसे विकसित किया जाना राष्ट्र के उज्ज्वल भविष्य के लिए सब प्रकार आवश्यक है।

व्यक्तिगत प्रगति और सामूहिक समृद्धि के लिए सामूहिकता अनिवार्य

संगठन के सामूहिकता के बल पर ही मनुष्य ने इतनी प्रगति की है। अन्य कितने ही जीव-जंतुओं से, पशु-पक्षियों से कितनी ही बातों में पिछड़ा हुआ होने पर भी मनुष्य ने सृष्टि के शिरोमणि प्राणी

का स्थान पाया है। इसका प्रधान कारण उसकी सामूहिकता— मिल-जुलकर रहने की वृत्ति को ही माना जाता है।

मनुष्य बुद्धिमान् अवश्य है, पर अपने-अपने क्षेत्र में कितने ही अन्य जीव-जंतु भी बुद्धिमान् हैं। ऋतु बदलते ही अनुकूल प्रदेशों में हजारों मील की यात्रा करके जा पहुँचने वाली और ऋतु बदलते ही फिर लौट आने वाली चिड़िया क्या कम बुद्धिमान् होती हैं ? प्रजनन के समय अनुकूल वातावरण ढूँढ़ने के लिए हजारों मील लंबी यात्रा करने वाली और तूफान की संभावना प्रतीत होने से समुद्र के गहरे गर्त में जा छिपने वाली मछलियों को क्यों नासमझ कहा जाय ? बया पक्षी कितना सुंदर घोंसला बनाता है, क्या उसे बुद्धिहीन कहा जायेगा ? उसी प्रकार बारीकी से देखने पर अपनी-अपनी मर्यादाओं और आवश्यकताओं के अनुरूप सभी जीवों में आश्चर्यजनक बुद्धिमत्ता दृष्टिगोचर होती है। फिर मनुष्य की बुद्धिमत्ता को ही क्यों विशेषता मिली ? इसका एक मात्र उत्तर यह है कि उसने सामूहिकता का महत्त्व समझा, मिल-जुलकर रहना तथा जाना, एक-दूसरे को सहयोग दिया और अपनी अनुभूतियों एवं उपलब्धियों के लाभ का आपस में आदान-प्रदान करते हुए सर्वतोमुखी प्रगति एवं प्रतिभा का पथ प्रशस्त किया।

हमें जो ज्ञान-विज्ञान से उत्पन्न सुख-साधनों का लाभ उपलब्ध है। क्या वह हमारा अपना उपार्जित है ? नहीं। उसे हजारों लाखों वर्षों से अनेक व्यक्तियों ने अपने-अपने अनुभव और अध्यवसाय का बल देकर आगे बढ़ाया है। आग जलाने और उसका उपयोग करने कला सीखकर मनुष्य ने जिस वैज्ञानिक सूझ-बूझ का परिचय दिया था, वह क्रमशः तेल, भाप, बिजली आदि द्वारा शक्ति प्राप्त करने की मंजिलें पार करती हुई इस एटम युग तक पहुँची हैं। सहस्रों वर्षों की इस लंबी यात्रा में अगणित विज्ञान प्रेमियों का योगदान रहा है। इसी प्रकार शिक्षा, संस्कृति, कला, संगीत, धर्म, चिकित्सा रसायन, भाषा, साहित्य, यंत्र, तंत्र आदि अनेकानेक विषयों में प्रगति करते हुए हमारे लिए वर्तमान स्थिति तक पहुँच सकना संभव हुआ है। उसकी पृष्ठभूमि में काम करने

वाली सामूहिकता को यदि हटा दिया जाय तो फिर कुछ भी शेष नहीं रहता। अपनी जिस बुद्धिमत्ता पर हम गर्व करते हैं, वस्तुतः यह सामूहिकता की बेटी-पोती ही कही जा सकती है। यदि मानव-प्राणी ने भी एकाकीपन, स्वार्थपरता एवं व्यक्तिवाद ही अपनाया होता, सामूहिकता में उत्साह न दिखाया होता, तो निश्चय ही वह पिछड़ा हुआ प्राणी होता और हो सकता है उसकी दुर्बल काया, प्रकृति के किन्हीं आघातों की चपेट में आकर इस धरती पर से अपना अस्तित्व समाप्त कर लेने के लिये भी विवश हो गई होती।

सामूहिकता में ही हमारी प्रगति और समृद्धि की मूलभूत प्रतिभा एवं प्रेरणा विद्यमान है। भौतिक जगत् में अब अधिकांश कारोबार सम्मिलित के फलस्वरूप ही चल और फल-फूल रहे हैं। कल-कारखाने बहुसंख्यक मजदूरों के सम्मिलित श्रम के फलस्वरूप ही अपनी उत्पादन क्षमता बढ़ाते हैं। शासन, सेना, न्याय आदि के व्यवस्था तंत्र एक देशव्यापी सुसंगठित योजना के ही अंग हैं। सरकारें क्या हैं ? जन-संगठन की एक विशाल संस्था ही तो उन्हें कहा जा सकता है ? उसके द्वारा संचालित एवं नियंत्रित स्वास्थ्य, शिक्षा, उद्योग, शोध, अनेक कार्य व्यवस्थित तंत्रों के आधार पर चल पाते हैं। कृषि एवं छोटे-छोटे गृह-उद्योग तक पारस्परिक सहयोग की अपेक्षा करते हैं।

परिवार अपने आप में सामूहिकता की ओर एक प्रयोगशाला है। विवाह का उद्देश्य वासनापूर्ति नहीं, वरन् एक नए परिवार का शुभारंभ मात्र है। क्या किसी ऐसे परिवार की कल्पना की जा सकती है, जिसके सब सदस्य पूर्णतया स्वार्थी हों ? कोई किसी के लिए त्याग, प्रेम, उदारता एवं सेवा का व्यवहार न करता हो। ऐसी स्थिति में परिवार का अस्तित्व ही दृष्टिगोचर न होगा। माता यदि अपना रक्त निचोड़कर बालक के मुख में अमृत न टपकाये, तो वह मांस का लोथड़ा कितने समय जीवित रह सकेगा ? एक-दूसरे को सहयोग न करें तो बड़ों द्वारा छोटों की सेवा और बड़ों की आनंद उपलब्धि का क्रम टूट जाय और अंततः हर एक को अकेला रहने के लिए विवश होकर तथाकथित श्मशानवासी भूत-पिशाचों की

तरह विक्षुब्ध एवं अभावग्रस्त नीरस जीवन व्यतीत करते हुए अपना अस्तित्व ही समाप्त करना पड़े।

हमारा आहार-विहार एवं दैनिक-जीवन का सारा क्रम पारस्परिक सहयोग पर निर्भर रहता है। क्या हममें से कोई ऐसा है, जो अपने लिए अन्न, वस्त्र, पुस्तक, वाहन, औषधि, मनोरंजन आदि प्रसाधनों को स्वयं उत्पन्न करता हो ? सुई, दियासलाई जैसी छोटी वस्तुओं तक के लिए हम पराश्रित हैं। एकाकी रहकर न किसी का भौतिक विकास हो सकता है न आत्मिक। योगीजन जो एकांत में रहते हैं, अतीतकाल से मनीषियों द्वारा प्रस्तुत विचारणा की पूँजी की ही उलट-पलट करते रहते हैं। यदि उन्हें स्वाध्याय-सत्संग आदि के माध्यमों द्वारा आवश्यक मार्गदर्शन न मिला होता, तो वे योगी नहीं, एक वन्यपशु की स्थिति में दिन काटने वाले मात्र रह गये होते।

सामूहिकता के महत्त्व को हमें समझना होगा। उसे मानव-जीवन की सर्वोत्तम विभूति के रूप में हृदयंगम करना होगा और यह स्वीकार करना होगा कि व्यक्ति का वैयक्तिक और समाज की सम्मिलित प्रगति केवल तभी संभव है जब सामूहिकता के प्रति अनन्य निष्ठा की भावनाएँ समुचित रूप से विकसित की जा सके। व्यक्ति यदि अपने संकीर्ण स्वार्थ और लाभ की बात सोचता रहे और अपनी कार्य पद्धति को उसी सीमित दायरे में अवरुद्ध रखे तो वह जनसमाज के लिए निरुपयोगी तो हो ही जायेगी, अपनी निज की प्रगति संभावनाओं से भी वंचित हो जायेगा।

जब हम दूसरों का सहयोग करते हैं तो ही यह आशा की जा सकती है कि दूसरे हमारा सहयोग करेंगे। प्रेम के बदले प्रेम, उदारता के बदले उदारता, सहयोग के बदले सहयोग और सज्जनता के बदले सज्जनता की आशा की जा सकती है। दुष्ट दुरात्मा, स्वार्थी, संकीर्ण रहकर दूसरों की सद्भावना प्राप्त कर सकना असंभव है। आतंक, छल या दुरभिसंधियों से किसी के कुछ साधन छीने जा सकते हैं, पर उसका स्नेह-सहयोग नहीं मिल सकता और यह एक तथ्य है कि बड़े से बड़े साधनों की तुलना में सामान्य व्यक्तियों का सद्भाव भी सुख-सुविधाएँ बढ़ाने में अधिक

कारगर सिद्ध होता है। जो सामूहिकता पर विश्वास करता है, दूसरों की सहायता के लिए तत्पर है, उसे दूसरी ओर से भी वैसी ही प्रतिक्रिया प्राप्त होगी। उन्नति एवं सुख-शांति के अगणित मार्ग इसी आधार पर खुलते हैं। संसार में जितने भी प्रगतिशील महापुरुष हुए हैं उनकी सफलता का कारण दूसरों का भरपूर सहयोग ही कहा जा सकता है और इसी उपलब्धि को वे अपनी उदारता, सज्जनता की कीमत चुकाकर ही खरीद सके।

हमें यदि व्यक्तिगत प्रगति एवं उन्नति अभीष्ट हो तो अन्य सद्गुणों के साथ-साथ हमें सामूहिकता का सद्गुण तो सीखना ही पड़ेगा। अन्य अच्छाइयाँ कुछ कम भी हों, तो काम चल सकता है; पर यदि संकीर्णता, संकोच, एकाकी एवं स्वार्थपरता ने मनोभूमि को अच्छादित कर रखा होगा—मतलब से मतलब रखने की नीति ने ही दूरदर्शिता एवं विचारणा को वंचित कर दिया होगा तो कोई आशाजनक संभावना शेष नहीं रह जायेगी ? मन का कोई कृपण आदमी बाह्य-जीवन में कभी महान् बन पाया हो, ऐसा आज तक संभव नहीं हो सका। जिसे व्यक्तिगत स्वार्थपरता ने देश, धर्म, समाज और संस्कृति की बात सोच सकने में वंचित कर रखा होगा, वह शरीर से मनुष्य दिखाई पड़ते हुए भी वस्तुतः एक निकृष्ट प्राणी है। उसकी विकास संभावनाएँ निकृष्टता तक ही सीमित रह जायेंगी। उसे कभी ऐसी प्रगति का अवसर न मिलेगा, जिसके लिये वह स्वयं आत्मसंतोष प्राप्त कर सके और दूसरे उसके प्रति श्रद्धा की अभिव्यंजना व्यक्त कर सकें।

अनेकों पाप, दोष इस संसार में होते हैं, पर सबसे बड़ा पाप यह है कि मनुष्य अपने आप तक ही सीमित हो जाय, दूसरों के दुःख-दर्द को घटाने और सुख-सुविधाओं को बढ़ाने के बारे में कुछ करना तो दूर—सोचना भी बंद कर दें। ऐसी स्वार्थपरता मनुष्य जीवन को कलंकित करने वाली है। असंख्य प्रकार के पाप ऐसे ही घृणित मनोभूमि उपजाते हैं। पापों की संख्या अगणित हैं, पर उनका उद्गम एक ही है और वह है—संकुचित स्वार्थपरता।

हमें अपनी समृद्धि और समाज की प्रगति यदि अभीष्ट होगी तो इस निष्कर्ष को हृदयंगम करना होगा कि, प्रगति की सारी संभावनाएँ सामूहिकता की प्रवृत्ति पर निर्भर रही हैं और रहेंगी। इस मार्ग पर चलते हुए हमारा व्यक्तिगत सर्वतोमुखी पथ ही प्रशस्त न होगा, वरन् उस समाज की सुख-शांति भी बढ़ेगी, जिसकी उन्नति-अवनति पर हमारे भविष्य का प्रकाश और अंधकार अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है।

कृपया जनसंख्या और न बढ़ाइये

घर में थोड़े आदमी होते हैं तो उनके आहार, वस्त्र, आवास तथा शिक्षा-दीक्षा में कोई असुविधा नहीं पड़ती। सब सदस्यों की समुचित देख-रेख हो जाती है। सबका समुचित विकास होता है। सुसंतुलित परिवार बड़े सुख और शांति का जीवन जीते हैं। थोड़े व्यक्तियों का जीवन बड़ी शान से गुजरता है। सबमें पारस्परिक प्रेम, स्नेह, आत्मीयता और कर्तव्यपालन की भावना बनी रहती है।

बहुत व्यक्तियों में बहुत परेशानियाँ होती हैं। किसी को आहार मिलता है तो कपड़े नहीं मिलते। बच्चों को विद्यालय भेजने की व्यवस्था नहीं हो पाती। कोई इधर झगड़ रहा है, कोई उधर रो रहा है। सारा दिन हो-हल्ला मचा रहता है। इसी हाहाकार में घर की सुख और शांति नष्ट होती रहती है।

अंधाधुंध बच्चे पैदा करने और परिवार बढ़ाने के सामूहिक दुष्परिणाम आज सबके सामने हैं। स्वास्थ्य की समस्या, शिक्षा की समस्या, बेराजगारी, भुखमरी, महँगाई की समस्या, निवास की समस्या। क्या व्यक्ति, क्या समाज और क्या राष्ट्र सब अगणित समस्याओं से ग्रस्त हैं। चैन तो किसी को है ही नहीं। कोई बीमारी से परेशान है, किसी का घर नहीं बन पाया। बे-रोकटोक बढ़ रही आबादी ने आज मनुष्य का संपूर्ण जीवन अस्त-व्यस्त कर दिया है, फिर भी आबादी उसी रफ्तार से बढ़ती जा रही है।

ईसवीं सन् का प्रारंभ हुआ था, उस समय सारे संसार की आबादी लगभग २५ करोड़ थी। सन् १८०० तक यह संख्या अस्सी

करोड़ तक पहुँची। इसे सौ वर्ष बाद यह संख्या एक अरब सत्तर करोड़ पहुँची। १९६१ की गणना के अनुसार विश्व की आबादी ढाई और तीन अरब तक हो गई थी। यह शताब्दी पूर्ण होते तक अनुमान है कि संसार की आबादी ५ अरब से अधिक हो गई है। वैज्ञानिकों का मत है कि बढ़ोतरी का क्रम इसी अनुपात से चलता रहा तो जल्दी ही वह समय आ जायेगा—जब एक व्यक्ति के हिस्से में केवल १ वर्ग फुट जमीन पड़ेगी। इसी में वह चाहे सो ले, उठ ले, बैठ ले, खाना पका ले या खेती कर ले। यह स्थिति कितनी विस्फोटक हो सकती है, इसकी कल्पना भी नहीं की जाती। संभव है—तब मनुष्य, मनुष्य को ही मारकर खाने लगेगा।

भारतवर्ष में यह समस्या और भी विकराल है। चीन को छोड़कर क्षेत्रफल के अनुपात से भारतवर्ष की जनसंख्या संसार में सबसे अधिक है। यहाँ पर विशेष रूप से पिछड़े वर्ग के व्यक्तियों के घरों में बहुत बच्चे जन्म लेते हैं। भारतवर्ष में प्रति मिनट दो बच्चा जन्म ले लेता है। इस हिसाब से एक वर्ष में दस लाख चालीस हजार आठ सौ बच्चे जन्म लेते हैं, जबकि मरने का अनुपात घटता जा रहा है। समाज कल्याण बोर्ड के आँकड़ों के अनुसार—१९२१ में शिशु मृत्यु संख्या १ हजार में १९५ और साधारण मृत्यु संख्या ३१ प्रति हजार थी। १९४१ में यह संख्या घटकर क्रमशः ९५८ और २२ ही रह गई। इस हिसाब से आबादी तेजी से बढ़ रही है। घटने का अनुपात तो बहुत ही थोड़ा है।

२० दिसंबर १९६३ के एशियाई जनसंख्या के घातक प्रभाव के संबंध में विचार करते हुये पं० जवाहरलाल नेहरू ने कहा था—

"आबादी बढ़ने की समस्या को अपने आप हल हो जाने के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता। हमें कुछ दूर दृष्टि और विशेष रूप से वैज्ञानिक सामाजिक तथा नैतिक आयोजनों के बल पर इस समस्या को हल करने का प्रयत्न करना होगा।"

शिकागो विश्वविद्यालय के प्रमुख जनगणनाशास्त्री डॉ० फिलिप एम० हाउजर से लेकर डॉ० ल्योना बौमग टर्नर, डॉ०

ट्यूबर, डॉ० जेम्स बोनर, सर जूलियस हक्सले, प्रो० हीजवान फोस्टेर, हर्मन बेरी आदि प्रमुख वैज्ञानिकों एवं जीवशास्त्रियों ने इस समस्या के लिए अपनी-अपनी तरह के अनेक सुझाव दिये हैं। सरकारी तौर पर भी परिवार नियोजन के लिए बहुत बड़ी धनराशि खर्च की जा रही है, किंतु समस्या अपने स्थान से टस से मस होती नहीं जान पड़ती। अन्य समस्याओं की विभीषिका भी इसी के साथ-साथ बढ़ रही है और मनुष्य के सर्वनाश की तैयारी कर रही है।

हमारे पूर्वज इस बात को बहुत पहले से ही जानते थे। उन्होंने मनुष्य की कामुक दुष्प्रवृत्ति के दुष्परिणामों का अनुमान उसी समय कर लिया था और उसका हल भी पूर्ण विचार के साथ खोज निकाला था। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की थी—

"मरणं बिंदु पातेन जीवनं बिंदु धारणात्।" ऐ मनुष्यों ! वीर्य की बरबादी ही तुम्हारी मृत्यु का कारण बनेगी। वीर्य रक्षा से ही जीवन धारण कर रखने में समर्थ हो सकोगे।

इन शब्दों सत्यता अमिट है। जनसंख्या की वृद्धि रोकने का इससे अतिरिक्त कोई इलाज भी नहीं है। मानवीय प्रकृति के विपरीत यदि कुछ प्रयोग हुए तो उनके और भी घातक परिणाम हो उठते हैं। कृत्रिम गर्भ निरोध के उपाय आज बरते जाते हैं, पर उससे स्वास्थ्य पर पड़ने वाले बुरे असर भी सामने आ रहे हैं। इस प्रयोग से वासनामक उच्छृंखलता को ही बल मिला, जबकि मूल समस्या ज्यों की त्यों है।

गृहस्थ धर्म में संतानोत्पादन का महत्त्व तो है, पर उसकी भी अपनी एक मर्यादा है। बच्चों को जन्म देते रहना ही काफी नहीं है, वरन् व्यक्तिगत एवं सामाजिक परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर उसके लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा और निर्माण पर भी उतना ही ध्यान देना आवश्यक है। इस पर अधिक दूरदर्शितापूर्वक किया गया विचार ही सही हो सकता है। प्रकृति का अपना भी एक विधान है। चाहे तो उसे ईश्वरीय अनुशासन

कह सकते हैं। मनुष्य इसका व्यतिक्रम नहीं कर सकता। उन सीमाओं के अंदर रहकर सुख अनुभव करने में ही मनुष्य का कल्याण हो सकता है।

सृष्टि का क्रम बनाये रखने के लिये एक या दो बच्चों को जन्म देना पर्याप्त है। इसके बाद गृहस्थ पति-पत्नी संयम और ब्रह्मचर्य का जीवन जी सकते हैं। व्यक्तिगत स्वास्थ्य की सुरक्षा, दृढ़ता, पुष्टि, दीर्घजीवन, प्रतिभा, मेधा, स्फूर्ति आदि की प्राप्ति का मूल वीर्य संग्रह ही है। संयमी इस संसार के सुख अधिक मात्रा में भोगते हैं। क्षणिक वासना में वीर्य जैसी बहुमूल्य वस्तु को बरबाद करने में मनुष्य अपनी सफलता समझे, तो उसके इस पागलपन का उपहास ही किया जा सकता है। इस संबंध में मनुष्य को बहुत अधिक सजग, बहुत सावधान होकर सोचने की जरूरत है। इस बात को पूरी तरह जान लेना चाहिए कि सुसंतति भी केवल वे ही प्राप्त कर सकते हैं, जो वासनात्मक प्रवृत्तियों से बचकर अपने शरीर और मन को पुष्ट और प्राणवान् रख सकते हैं। निर्जीव बीज की फसल भी निर्जीव ही होती है। इस सिद्धांत के अनुसार संतोनोत्पादन की आवश्यकता को ध्यान में ही रखकर ही गृहस्थ धर्म का पालन किया जाना चाहिए।

अपने व्यक्तिगत, समाज, राष्ट्र और विश्वहित की दृष्टि से जनसंख्या को सीमित एवं नियंत्रित रखा जाना आवश्यक है। अन्यथा प्रकृति को विवश होकर ध्वंसात्मक कार्य करना पड़ेगा। भुखमरी, अकाल, महँगाई, भ्रष्टाचार, युद्ध आदि उसी के अभिशाप हैं। संसार को नियमित रखने के लिए प्रकृति जोर मारती है तो उससे विनाश के ही लक्षण दिखाई देते हैं। इसलिए मनुष्य स्वयं उस समस्या को सुधारने का प्रयत्न करें, यह सबसे अच्छी और फायदे की बात हो सकती है।

आज की स्थिति में यह बहुत आवश्यक हो गया है कि जनसंख्या की वृद्धि को रोकने के लिए कुछ किया जाय। अन्य जो भी साधन हैं, उन्हें हम बुरा नहीं बताते, किंतु एक बात विश्वासपूर्वक कही जा सकती है कि जनसंख्या बढ़ाने के

अपराधी हम स्वयं हैं—परिस्थितियाँ नहीं, इसलिए यह प्रयत्न भी हमें ही करना होगा। संयम और सीमित संतोनात्पादन का कर्तव्यपालन करना होगा, इसमें सभी लाभ टिके हुए हैं। संयम सांसारिक सुख का भी मूल है, इसलिये यह किसी भी प्रकार घाटे का सौदा नहीं। हम चाहें तो थोड़े बच्चे पैदा कर अपनी शारीरिक शक्तियों को अक्षुण्ण रख सकते हैं, मस्ती और उल्लास का जीवन जी सकते हैं।

सरकार कोई मशीन नहीं, जो जनता की सब समस्यायें सुलझा दे। आपके सहयोग के बिना वह लँगड़ी, लूली और अंधी होती हैं। इस मामले में भी वह स्वत: निर्भर नहीं। सरकार कानून द्वारा चाहे तो रोक लगा सकती है, पर उससे आप मानवीय अधिकार से वंचित होंगे। यह कोई भी नहीं चाहेगा, पर साथ ही आज की समस्याओं से भी कोई शांति नहीं पा सकता।

इस स्थिति को देखते हुए कृपया अधिक जनसंख्या न बढ़ाइये। संयम से रहा कीजिये। ब्रह्मचर्य का पालन किया कीजिये। इससे आपकी शक्तियाँ प्रबुद्ध होती हैं। सफलता की संभावनायें बढ़ेंगी। सुसंतति को जन्म देने का राष्ट्रीय दायित्व, खाद्य समस्या से बचने का अंतर्राष्ट्रीय दायित्व भी आप इसी तरह निभा सकते हैं।

मालिकों को जगाओ—प्रजातंत्र बचाओ

प्रजातंत्र संसार की सर्वोत्तम शासन पद्धति है। इसमें अपने भाग्य का निर्माण प्रजा के अपने हाथ में रहता है, अपनी मर्जी की व्यवस्था उसके हाथ में रहती है। बोलने, लिखने और करने की वहाँ तक आजादी रहती है, जहाँ तक कि सार्वजनिक सुविधा और राष्ट्र व्यवस्था में व्यतिरेक उत्पन्न न हो। इन गुणों के रहते हुए भी उसमें कमी इतनी ही है कि यदि मतदाता शिक्षित और सतर्क न हो तो चतुर लोग उन्हें बहकाकर वोट तो झपट ही लेते हैं, बल्कि लाभ भी वही लोग उठाते हैं, प्रजाजनों का हित उपेक्षित पड़ा रहता है। प्रजातंत्र का लाभ उठाने और उसका प्राण बनाये रखने के लिए

मतदाता को दूरदर्शी, देशभक्त और उपयुक्त निर्णय कर सकने में समर्थ होना ही चाहिए, अन्यथा यह शासन पद्धति स्वार्थी के निहित स्वार्थ पूरे करते रहने का साधन मात्र रह जाती है। प्रजाजन कष्ट पीड़ित एवं पिछड़े ही बने पड़े रहते हैं।

प्रजातंत्री देश के असली मालिकों को, मतदाताओं को यह जानना चाहिए कि उन्हें अपने कर्मचारी कैसे रखने हैं और उनकी नियुक्ति से पूर्व क्या जाँच-पड़ताल कर लेनी है ? पाँच रुपये की मिट्टी की हाँडी खरीदते हैं, तब भी उसे ठोक-बजाकर खरीदते हैं, फिर इतनी बड़ी—देशव्यापी—अरबों-खरबों रुपये की संपत्ति की साज-सँभाल और देखभाल करने के लिए जिसे 'मुख्तार आम' नियुक्त किया जाना है, उस प्रतिनिधि की योग्यता और ईमानदारी भी कसौटी पर कसी ही जानी चाहिए। यह पद इतना छोटा नहीं कि इस पर बिना समझे-बूझे किसी को भी नियुक्त कर दिया जाए। यह देशव्यापी संपत्ति जिसमें १०० करोड़ जनता के जान-माल, प्रभाव-स्तर आदि की समस्त संभावनायें भी जुड़ी हुई हैं। इतनी छोटी चीज नहीं है कि इस वैभव, वसुधा को किसी के भी हाथ सौंप दिया जाय।

राष्ट्र की सर्वांगीण व्यवस्था एवं प्रगति के कार्य की विशालता और महत्ता को जब तक ठीक तरह समझा न जायेगा और प्रतिनिधियों द्वारा बिगाड़ने-बनाये जाने की संभावना पर जब तक दूरगामी परिणामों को ध्यान में रखते हुए विचार न किया जायेगा, तब तक मत और मतदान की महत्ता का उत्तरदायित्व और प्रतिनिधि की नियुक्ति का क्रम जब ठीक से न बनेगा तब तक सारा गुड़-गोबर ही होता रहेगा और लोग स्वराज्य की अपेक्षा पर-राज्य को तथा आजादी से गुलामीयत को अच्छा बताने की खोज व्यक्त करते रहेंगे।

मतदाता को हजार-बार यह सोचना चाहिए कि राष्ट्र के विकास और विनाश का उत्तरदायित्व प्रजातंत्र ने उसके कंधे पर सौंपा है। उसे यह अद्भुत अधिकार मिला हुआ है, चाहे तो देश को ऊँचा उठाने, आगे बढ़ाने में योगदान करे अथवा उसे टांग पकड़

कर पीछे घसीटने एवं उसे पतन के गहरे गर्त में धकेल देने की प्रक्रिया पूरी करें। इस अधिकार को वह कई वर्ष बाद—चुनाव के समय पर एक बार ही उपयोग में ला सकता है। चैक पर दस्तखत पाँच सेकंड में हो जाते हैं, उतने से ही जिंदगी भर की कमाई का जमा पैसा बैंक से निकाला जा सकता है। किसी को अपनी जायदाद बेच देने के लिए रजिस्ट्रार के दफ्तर में पाँच मिनट खड़े होना और दस्तखत कर देना काफी होता है। बाप-दादों की कमाई उतने भर से ही पराई हो जाती है। ठीक चैक पर दस्तखत करने और रजिस्ट्री ऑफिस में स्वीकृति देने जैसी क्रिया ही मतदान की है। यह चंद घंटे जो मतदान में लगते हैं इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि उसे खिलवाड़ नहीं समझा जाना चाहिए। उसमें अपने और अपने देश के भाग्य को बेच देने जैसी प्रक्रिया संपन्न होती है।

नशा पिला देने भर से प्रसन्न होकर जो जायदाद का बैनामा करदे, उसे क्या कहा जाय ? जो थोड़ी चापलूसी से बहककर चैक पर दस्तखत कर दे, उसे समझदार कैसे कहा जायेगा ? लड़की की शादी करते हैं तब लड़के तथा उसके खानदान की पूरी-पूरी जाँच करते हैं। राष्ट्र-माता की गरिमा लड़की से भी बड़ी है, उसे किसी के हाथ सौंपना हो, तब क्या कुछ भी देखभाल नहीं की जानी चाहिए ? धर्मभीरु लोग गाय को कसाई के हाथों नहीं बेचते। चाहे किसी भले मानस के हाथों कम पैसे में अथवा मुफ्त ही क्यों न देनी पड़े। भावनाशील लोग गौ माता के सुख-दुःख का भी ध्यान रखते हैं और उसका रस्सा किसी के हाथों में थमा देने से पहले हजार बार विचार करते हैं कि उसे किसके हाथ में सौंपा जाना ठीक होगा ? भारत माता की महिमा गौ माता से भी बड़ी है। उसे किसी को सौंपने की प्रक्रिया का नाम ही मतदान है। इस धर्म कृत्य को एक प्रकार का यज्ञ समझा जाना चाहिए और उस पुण्य-प्रक्रिया को करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि देव भाग को कहीं श्वान-शृगाल न खा जायें। भारत माता जैसी महान् गौ का दान करते समय प्रतिनिधि की पात्रता का ध्यान रखा ही जाना चाहिए। गलत कदम उठ जाने से ही सारे समाज का अहित होगा और उस

दावानल की चपेट से बचेगा अपना भी घर नहीं। लोगों के बहकावे में आकर कोई अपने छप्पर में आग नहीं लगा लेगा। समझदार बच्चे किसी ठग द्वारा लेमनजूस की गोली देकर कोट उतरवा लेने की चालाकी को समझते हैं और बहकावे में नहीं आते। चिड़ियाँ तक बहेलिये का जाल और दाने का भेद समझती हैं और उनमें से जो होशियार होती हैं पकड़ में नहीं आतीं। चालाक चोर रखवाली वाले कुत्ते को पहले रोटी के टुकड़े देकर भौंकने से बंद रहने का प्रलोभन देते हैं कि वह चुप रहे और चोरी की घात लग जाय, पर समझदार कुत्ते उस भुलावे में नहीं आते। वोट माँगने और झपटने के समय ऐसी ही लाख चतुराई बरती जाती हैं, जिसमें भोले मतदाता की वस्तु स्थिति का पता ही न चले और छोटे प्रलोभनों और झूठे आश्वासनों के फेर में पड़कर उससे वह काम करा लिया जाय जो उसे नहीं करना चाहिए। अब मतदाता की बुद्धिमानी रह जाती है कि वह वस्तु स्थिति को समझे और निष्पक्ष न्यायाधीश की तरह अपना फैसला उसी के पक्ष में प्रस्तुत करे, जो न्यायानुसार उसका अधिकारी है।

कितने वोट माँगने वाले, भोले-भाले मतदाता को दिग्भ्रांत करने के लिए क्या-क्या तरकीबें भिड़ाते हैं, उन्हें बारीकी से देखा जाय तो धूर्तता का लोहा मानना पड़ता है। जाति-बिरादरी का बहुत जोर उन दिनों दिखाई पड़ता है जिन दिनों वोट पड़ते हैं। अपनी बिरादरी वालों को कहा जाता है कि—अपने तो अपने ही होते हैं, हम आपकी बिरादरी, खानदान, रिश्तेदारी में से हैं, जो आपका भला करेंगे, सो दूसरों का थोड़ा ही कर सकते हैं। जो काम आपका हम से निकल सकता है, सो दूसरों से थोड़े से ही निकलेगा। चुन जाने से अपनी बिरादरी का सिर ऊँचा होगा और दूसरी बिरादरी वाले हम लोगों का मुकाबला न कर सकेंगे। इस प्रकार की बातें भावनाओं को भड़काने में जादू की तरह काम करती हैं और भोले लोग सहज ही उनसे बहकाये-भरमाये जा सकते हैं। इसी सिलसिले में एक और बात भी कही जाती है कि दूसरी बिरादरी वाले ने हम लोगों को चुनौती दी है, गाली दी है कि इस बिरादरी वाले को नीचा

दिखायेंगे। वे लोग अपनी बिरादरी वाले उम्मीदवार को जिताने में लगे हुए हैं और हम लोगों की हेठी करना चाहते हैं। अब आप लोगों का काम है कि उन लोगों को मुँह तोड़ जवाब दें या नहीं। अपने भाई की, अपनी बिरादरी की बात ऊँची करें या नहीं। इस प्रकार का जोश—दिलाकर—फूट पैदा करके—अपनी बिरादरी वालों का वोट इस बहकावे में और दूसरी बिरादरी वालों का वोट आदर्श, सिद्धांत, लालच, खुशामद, दोस्ती, दबाव आदि के आधार पर प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। आजकल यही हथकंडे प्रायः सारे देश में प्रयोग किये जाते हैं और इन्हीं धूर्तताओं से चुनाव जीते जाते हैं।

बिरादरी के हित के नाम पर उन्होंने कब क्या किया है ? बिरादरी को कुरीतियों से छुड़ाने में उनका क्या योगदान रहा है ? बिरादरी के दुःखी-दरिद्र लोगों की सुविधाओं के लिए उसने क्या किया है ? इसका लेखा-जोखा माँगने से वे शून्य निकलते हैं। दूसरी बिरादरी वाले चुनौती देते हैं, यह बात भी प्रायः हर जाँच-पड़ताल में झूठ निकलती हैं। कहीं सच भी होती है तो वह भी दूसरी बिरादरी वालों के मुँह से लोभ या दबाव देकर ऐसे शब्द कहलवा लिए जाते हैं, जिसमें अपनी बिरादरी वालों में तनाव पैदा हो और उसका लाभ अपने को मिले। फिर बिरादरी-बिरादरी के बीच कोई युद्ध तो नहीं चल रहा है, जिसमें अपनी जाति के लोगों की जीत आवश्यक हो। सरकारी कोई न्यायानुकूल विधान भी ऐसा नहीं है, जिससे किसी जाति विशेष वाला अपनी जाति वालों का फायदा करा सके। यदि वह अन्याय और पक्षपात से कोई अनुचित लाभ कभी छलबल से करा भी दें तो उससे बदनामी, गलत परंपरा का प्रचलन एवं इतनी गड़बड़ी फैल सकती है कि जातिवाद के नाम पर सर्वत्र पक्षपात चल पड़े और उससे जन-साधारण को न्याय मिलना ही कठिन हो जाय। इन सब बातों देखते हुए शासन में बिरादरवादी का कोई महत्त्व नहीं रह जाता है और यदि इस तरह के आधार स्थापित करने का प्रयत्न किया गया तो सबका

द्वेष एवं विरोध लेकर वह पक्षपात करने वाला जातिवाद ही घाटे में रहेगा।

ठगों का धंधा सर्वत्र चलता है। ठगी के तरीके भी असंख्य है। ठग लोग पुरानी तरकीबें पकड़ में आ जाने पर नई तरकीबें निकालते रहते हैं, जो पिछली से अधिक अनोखी होती हैं, पर इस ठगी के व्यवसाय में पीछे काम करने वाले तीन मुख्य आधार ज्यों के त्यों रहते हैं। उनमें परिवर्तन कर सकना अभी तक किसी ठग विद्या के निष्ठावान् द्वारा भी संभव नहीं हो सका है। (१) मीठी बातें कहकर अपने को विश्वस्त और शुभ-चिंतक सिद्ध करना, (२) छोटा प्रलोभन-उपहार देकर अपने को उदार एवं सज्जन सिद्ध करना। (३) जल्दी ही कोई बड़ा फायदा करा देने का सब्जबाग दिखाना, इन्हीं तीन सिद्धांतों को विभिन्न रूप में प्रयुक्त करके ठग लोग भोले लोगों को आकर्षित करते हैं और जब वे इन तरकीबों से थोड़े नरम पड़ते, ललचाते दीखते हैं तभी उन्हें वे इस तरह ठगकर चारों खाने चित्त कर देते हैं।

दोस्ती की आड़ में दुश्मनी करने का आज एक फैशन ही हो गया है। पुराने जमाने में जिसे नुकसान पहुँचाना होता था, खम ठोककर सामने आते थे और अपने को खुले आम दुश्मन कहते थे तथा अपने इरादे खोल देते थे। अब फैशन दूसरे किस्म का है। नये जमाने की तरकीब यह है कि जिसे ठगना, सताना या गिराना हो, उससे पहले मित्रता गाँठी जाय और जब वह भरोसा करने लगे तभी ऐसा पल्टा लिया जाए कि बेचारा दोस्त बना हुआ व्यक्ति भौचक्का ही रह जाय और इस अप्रत्याशित विश्वासघात के झटके से चित्त-पट्ट हो जाय। वोट माँगने के दिनों कितने ही निम्न स्तर पर चुनाव लड़ने वाले द्वारा प्रयुक्त इस हथकंडे को हर कोई समझदार व्यक्ति आसानी से देख सकता है। वोट लेने से पहले की मिठास, खुशामद और अपनेपन की जो वर्षा की जाती थी, कल्प-वृक्ष की तरह हर मनोकामना को पूरा करा देने की आशा दिलाई जाती थी, उसमें कितनी दम थी, इनका नग्न रूप देखना हो तो चुनाव के बाद उन चुने हुए सज्जन का रंग-ढंग, तौर-तरीका

देखकर आसानी से वस्तु-स्थिति को समझा जा सकता है। यों सही तरीकों पर चुनाव लड़ने वाले सैद्धांतिक मतभेद या कार्यक्रमों संबंधी बातों को लेकर ही जनता के पास जाते हैं। वही तरीके काम में लाते हैं, जो ईमानदार प्रतिनिधि को लाने चाहिए; पर ऐसे लोगों की संख्या बहुत नहीं होती।

समय आ गया है कि मतदाता अपने को इतना भोला या मूर्ख सिद्ध न होने दे कि उसे हर बार ऐसे ही किसी हथकंडे से ठगा जाय और प्रतिनिधित्व का सेहरा उन लोगों के सिर पर बँध जाय जिनसे लोकहित की ओर आशा नहीं की जा सकती। जो जुआ खेलता है, वह कई गुने लाभ की आशा से ही खेलता है। व्यापार तो कम लाभ पर भी किया जा सकता है, पर जुए का दाब तो तभी लगाया जा सकता है जब कोई गहरा लाभ हो। चुनावों में अंधाधुंध खर्च किया जाने वाला पैसा वस्तुतः जुआ है। जीतने की क्या गारंटी ? जुआ उसे कहते हैं जिसके परिणाम पूर्ण अनिश्चित हो। चुनाव में जीत ही होगी, इसका क्या निश्चय है ? इतने पर भी जो लोग अंधाधुंध पैसा लगाते हैं, उनका जरूर कोई बड़ा दाव होना चाहिए और वह दाव इतना फायदेमंद होना चाहिए कि यदि दाव हार भी जाया जाय तो उस सफलता से होने वाले लाभ को देखते हुए उस जोखिम को बर्दाश्त भी किया जाय। कुछ को छोड़कर चुनाव में अंधाधुंध खर्च करने वालों का दृष्टिकोण प्रायः ऐसा ही होता है। इसलिए जहाँ अंधाधुंध पैसा फूँका जा रहा है, वहाँ उसके पीछे किसी कुटिलता की संभावना तलाश की जानी चाहिए।

कोई ईमानदार व्यक्ति देशसेवा का अवसर पाने के लिए चुनाव में इतना खर्च करता हो तो भी यह न्यायानुकूल नहीं। समय के साथ-साथ इतना धन भी क्यों देना पड़े और क्यों खर्च का इतना स्तर बढ़े, जिसे गरीब प्रतिनिधि वहन ही न कर सके। होना यह चाहिए कि चुनावों में इतना खर्च होने की स्थिति ही न आवे। बहुत खर्च होने पर उसे पूरा करने की जो चिंता करनी पड़ती है—वह किसी को भी न करनी पड़े यही उचित है।

प्रश्न यह है कि क्या हो रहा है, होता रहा है, उसे ही होने दिया जाये या उसमें कुछ परिवर्तन लाया जाये ? अधिनायकवाद में तो प्रजा के बस की कुछ बात नहीं रहती, पर जनतंत्र में यह गुंजायश रहती है कि यदि प्रजा चाहे तो अच्छा शासन लाया जा सकता है और उसके माध्यम से व्यक्ति एवं समाज की सुख-शांति को सुरक्षित एवं समुन्नत किया जा सकता है। निस्संदेह ऐसा हो सकता है। पर वह हो तभी सकता है जब मतदाता अपनी जिम्मेदारी को अनुभव करे और यह सोचे कि मतदान के रूप में उसे कितना बड़ा अधिकार और उत्तरदायित्व मिला हुआ है। अपने और अपने देश के भाग्य-भविष्य का निर्माण कर सकने में उन्हें कितना बड़ा योगदान कर सकने का अवसर प्राप्त है। इतने बड़े अवसर के उपलब्ध होते हुए भी यदि उसका उपयोग करना न आया तो यही समझना चाहिए कि सोते समय सुरक्षा के लिए नियुक्त बंदर के हाथ में तलवार देकर राजा ने भूल ही की है। उसके मुँह पर मक्खी बैठी और उड़ाने के लिए बंदर ने तलवार चला दी, फलस्वरूप उसे नाक से ही हाथ धोना। अनाड़ी वोटर उस बंदर की तरह है, जिसे तलवार चलाने के लिए उपयुक्त स्थान और अवसर ढूँढ़ने की समझ नहीं है। जलती दियासलाई डाल देने से विपत्ति ही उत्पन्न हो सकती है। भले ही खेल-खेल में या असावधानी से ही वह भूल क्यों न हो, पर उसका परिणाम तो भयावह हुए बिना रहेगा नहीं। छूटा हुआ तीर वापस नहीं आ सकता, दिया हुआ वोट लौटाया नहीं जा सकता, इसलिये जब तक उसका प्रयोग नहीं हुआ है, उससे पहले ही हजार बार सोचना चाहिए कि इस राष्ट्र की अमानत और समाज की पवित्र धरोहर की श्रद्धांजलि को कहाँ अर्पित किया जाय। यह देवता के चरणों में चढ़ाने योग्य है या असुर को सौंपा जाए ? वोट किसे दिया जाये ? किसे न दिया जाये ? इसके संबंध में देश के हित और समाज के भविष्य का ध्यान रखते हुए उपयुक्त पात्र की तलाश की जाय, तभी यह संभव है कि देश के सुदिन आये और उसका सौभाग्य सूर्य का उदय हो।

राष्ट्र को पतन या उत्थान की ओर ले चलने को वोट के रूप में मिले हुए अधिकार और अवसर का दूरदर्शिता के साथ उपयोग किया जाना चाहिए। यह तथ्य हमें अपने देश के मालिकों को तत्परतापूर्वक समझाना ही चाहिए और उन्हें पूरे मनोयोग एवं गंभीरता के साथ इसे समझना चाहिए। प्रजातंत्र की सफलता के लिए यह नितांत आवश्यक है कि मतदाता दूरदर्शी एवं जिम्मेदार बनकर अपने राष्ट्रीय कर्तव्य को समझे और उसे दृढ़ता के साथ निबाहें। वोट केवल उन्हें मिले, जो उसके हकदार हैं। चुनाव में वे जीतें—जिनके हाथ में न्याय और लोकहित सुरक्षित है। ऐसे लोग कथनी से नहीं करनी से परखे जाने चाहिए और उनके अब तक के क्रियाकलाप को सूक्ष्मदर्शी यंत्र से देखा जाना चाहिए कि इनके रक्त में अनैतिकता के विष बीजाणु तो नहीं है। जिस प्रकार किसी घातक रोग के रोगी से हम अपनी कन्या का विवाह करने से स्पष्ट इनकार कर देते हैं, उसी साहस और विवेक को अपनाकर हमें उन लोगों को वोट देने से स्पष्ट इनकार कर देने चाहिए, जो नीति, सदाचार और आदर्शों की कसौटी पर खरे नहीं उतरते।

प्रजा अपने कर्तव्यों से विमुख न हो

चोर का दाव तब लगता है जब मालिक सो रहा हो। जागते घर में चोरी नहीं हो सकती। प्रजातंत्र की शासन व्यवस्था में सरकार प्रजा के हित के लिए प्रजा के द्वारा ही चलती है। पर यदि प्रजा का हित न हो, चंद मुट्ठी भर लोगों की संपन्नता तथा सुविधाएँ प्राप्त करने की स्थिति बढ़ती जायें और प्रजाजनों के कष्ट बढ़ते जायें, तो समझना चाहिए कि कहीं कोई बड़ी गलती रह रही है। अपने देश में हमें यह गल्ती मतदाता की गफलत और अदूरदर्शिता के रूप में दिखाई पड़ती है। मालिक सो जाय तो चोरी की घात लगती है। मतदाता अपने बहुमूल्य मतदान का उपयोग समझ-बूझकर न कर रहा हो, तो फिर उसे लाभ कैसे मिलेगा ? मतदाता की असावधानी तथा अदूरदर्शिता को हटाने के लिए हमें

प्राणपण से चेष्टा करनी चाहिए, ताकि उस श्रेष्ठ शासन पद्धति का लाभ सर्व साधारण को मिल सके।

किसी एक कारखाने में एक क्लर्क की जरूरत थी। विज्ञापन छपा। अर्जी लेकर मुलाकात के लिए कितने ही बाबू आये। मैनेजर ने योग्यता के हिसाब से एक व्यक्ति को पसंद किया और अपनी सिफारिश के साथ उसे मालिक के पास नियुक्ति के लिए ले गया। मालिक भी योग्यता की दृष्टि से संतुष्ट हुआ, पर जब उसके लिबास-पहनाव को देखा तो अधिक पूछताछ शुरू की। मालूम हुआ कि वह कपड़े कई सौ रुपये के हैं और वह सदा से ऐसे ही पहनने का आदी रहा है। मालिक ने उसे काम देने से यह कहकर इनकार कर दिया, कि यहाँ तो २००) रु० मासिक मिलेंगे। इतना तो आपके ठाठ-बाट के लिए पूरा नहीं पड़ेगा। गुजारे के लिए आपको कोई न कोई अनुचित रास्ता ढूँढ़ना पड़ेगा। इससे मुझे सदा संदेह और अविश्वास बना रहेगा। मुझे तो सादगी से रहने वाला ऐसा ईमानदार व्यक्ति चाहिए, जो नियत वेतन में ही संतोषपूर्वक अपना गुजारा चला ले।

चुनाव जीतने के लिए अब इतना अधिक खर्च करना पड़ता है कि उसे पूरा कर सकना मामूली आदमी के बलबूते की बात नहीं रही। कानून के अनुसार थोड़ा-सा ही पैसा प्रतिनिधियों को चुनाव में खर्च करने का अधिकार है। इसका उन्हें हिसाब भी देना पड़ता है, पर वह कागजी कार्यवाही भर है। वास्तविक खर्च उससे कितने गुना अधिक होता है, उसे भुक्तभोगी या निकट संपर्क में आने वाले भली-भाँति जानते हैं। सवारी, सिफारिश, पर्चे, पोस्टर, भाषण, जुलूस आदि में होने वाले खर्चे तो गौण हैं। असली खर्चा तो लोगों को अपनी ओर मोड़ने के लिए किया जाता है। प्रभावशाली लोगों को अपने पक्ष में मिलाने के जोड़-तोड़ में न जाने कितना धन लग जाता है ? चुनाव के दिन वोटरों को मुफ्त सवारी और मुफ्त भोजन आदि देने की मनाही है, पर उस मनाही पर अमल कहाँ होता है ? कानून तो हर बुरे काम के विरुद्ध बने हुए हैं और नियम तोड़ने पर कड़े दंड की व्यवस्था है, पर वह व्यवस्था कितनी चलती है, यह

हम आँखों से देखते हैं। कानून-कायदे भर की बात होती तब तो कितना अच्छा होता। पर जो हो रहा है, आखिर आँखें उसे भी देखती तो हैं ही। चुनाव जीतना इन दिनों कम खर्चे का काम नहीं। यों अपवाद तो हर जगह होते हैं। ऐसे लोग भी हो सकते हैं, जो उचित तरीकों के लिए उचित खर्च ही करते हों, पर उनकी संख्या नगण्य ही होगी।

जब तक चुनाव इतना महँगा रहेगा तब तक केवल संपन्न लोग ही विजयी होते रहेंगे। आदर्शवादी और लोकसेवी जीवन-क्रम अपनाने वाला कोई बिरला व्यक्ति ही इतने साधन जुटा सकता है, कि इतने महँगे चुनाव का वहन कर सके। ऐसी दशा में परखे हुए और तपे हुए ऐसे व्यक्तियों का शासन सूत्र सँभाल सकने के स्थान तक पहुँचना कठिन ही बना रहेगा, जो निर्भीक और निष्पक्ष हैं तथा जिनमें सूझ-बूझ और क्षमता इस कार्य को सँभालने की विद्यमान है।

कई राजनीतिक पार्टियाँ अपने प्रतिनिधियों को पैसा देती हैं। यह पैसा जिन लोगों से आता है, उनका प्रभाव और दबाव उन संस्थाओं पर रहना संभव है। इसके अतिरिक्त उतनी बड़ी धनराशि जुटाने के लिए भी उन संस्थाओं को न जाने क्या-क्या, ऊँच-नीच करनी पड़ती होगी और उसकी प्रतिक्रिया के क्या-क्या परिणाम होते होंगे ? यह आम चर्चा का विषय नहीं है। वस्तु स्थिति को जो लोग समझते हैं, उन्हें इस निष्कर्ष पर ही पहुँचना पड़ता है कि पार्टियों द्वारा दिये हुए धन से जीतने वाले प्रतिनिधि की भी स्वतंत्रता निष्पक्षता अक्षुण्ण नहीं रह सकती और उसे भी अपनी स्वतंत्र चेतना के अनुसार उपयुक्त सुझाव या दबाव देने का अधिकार नहीं रहता। उस बेचारे को कठपुतली ही बनकर रहना पड़ता है।

स्वयं संपन्न न हो और पार्टी अप्रत्यक्ष दवाब से बचने के लिए बाहरी सहायता लेना भी उचित न समझे, तो फिर एक ही उपाय रह जाता है कि चुनाव का खर्च न्यूनतम हो और उसे उस क्षेत्र के मतदाता स्वयं वहन करें। जो अपना समय ईमानदारी से लोकहित

के कार्यों में देना चाहता है, उसे इस बात के लिए मजबूर न किया जाना चाहिए कि वह चुनाव में खर्च करने के लिए लंबी-चौड़ी धन राशि भी निकाले। इनका दबाव जिस पर पड़ेगा—उसकी ईमानदारी अटल बनी रहना संदिग्ध हो जायगा। जो वेतन चुने हुए प्रतिनिधियों को मिलती है, वह उनके पद और कार्य के साथ जुड़ी हुई जिम्मेदारियों को पूरा करने लायक ही होता है। उसमें से इतनी बचत संभव नहीं कि खर्चीले चुनाव का बोझ भी वहन किया जा सके।

राजनैतिक पार्टियों में से जो जिसे पसंद हो, वह उसमें रहे, इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। प्रायः राजनैतिक पार्टियाँ देशभक्त होती हैं और हर कार्यक्रम के अनुसार देश को आगे बढ़ाया जा सकता है। शर्त इतनी भर है कि प्रतिनिधि सच्चे अर्थों में देशभक्त और सच्चे अर्थों में ईमानदार तथा कर्तव्यपरायण हों। राजतंत्र जो इन दिनों बहुत बदनाम और पिछड़ा हुआ माना जाता है, किसी जमाने में रामचंद्र जी के राजा होने पर उसी पिछड़े समझे जाने वाले तंत्र के आधार पर सतयुग के दृश्य उपस्थित हो गये थे। और उसमें एक राज्य, धर्म राज्य के सपने गांधी जी तक देखते रहे। अच्छे से अच्छे वाद और संगठन जब बुरे लोगों से भर जाते हैं तो उसके परिणाम बुरे ही होते हैं। इसलिए किस राजनैतिक पार्टी ने अपने घोषणा पत्र में क्या छापा है ? इतना देख लेना पर्याप्त नहीं। सवाल यह है कि उन घोषणाओं और ईमानदारी से पूरा कौन करेगा ? यदि व्यक्तियों का स्तर ऊँचा न रहे तो ऊँची घोषणाओं और आश्वासनों के बावजूद जो कुछ सामने आवेगा निराशा और चिंताजनक ही होगा।

अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनने और चापलूसों द्वारा अपनी बड़ाई कराने का इन दिनों खूब रिवाज है। समय आने पर अच्छाइयों के तिल को ताड़ बना देने और बुराइयों के ऊँट को घड़े में छिपा देने की कला में लोग बहुत प्रवीण हो गये हैं। चुनावों के समय जनता को गुमराह करने के लिए भले को बुरा और बुरे को भला साबित करने के लिए जो कुछ जिस ढंग से

कहा जाता है उसे देख-सुन के आश्चर्य होता है कि युद्ध और प्रेम में सब कुछ सही-गलत किया जाता है। युद्ध और प्रेम का अनुभव जिन्हें न हों, वे चुनावों के समय जो कुछ होता है उसे तटस्थ और सूक्ष्मदर्शी की बारीकियों से देखें तो पता चलेगा कि उल्टी-सीधी पट्टी पढ़ाने का जैसा सुव्यवस्थित क्रम चुनावों के दिनों अपनाया जाता है, उनसे और सब अवसर पीछे रह जाते हैं। इस प्रचार प्रोपेगंडा के कुहासे को चीरकर हमें वस्तु स्थिति का पता लगाना चाहिए और प्रतिनिधि के पिछले जीवन की गतिविधियों का बारीकी से मूल्यांकन करना चाहिए। कोई व्यक्ति एक दिन में ही लोकसेवी, परमार्थी या देशभक्त नहीं बन जाता। जिसके अंदर ये प्रवृत्तियाँ होती हैं, वे पग-पग पर उन्हें अनायास ही कार्यान्वित करते रहते हैं और उन प्रयत्नों तथा घटनाक्रमों की जाँच-पड़ताल की जाय तो सहज ही पता लग जाता है कि किसी व्यक्ति का चरित्र, अंतःकरण एवं लक्ष्य प्रयोजन किस दिशा में किस गति से काम कर रहा है ? विदेशों में व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन को अलग-अलग कहा जाता है और व्यक्तिगत जीवन की भ्रष्टताओं को सार्वजनिक कार्यों की चर्चा चलने पर आड़े नहीं आने दिया जाता। यह गलत दृष्टिकोण है। व्यक्ति एक है, उसका चिंतन और चरित्र एक ही हो सकता है। इसलिए व्यक्तिगत जीवन को सार्वजनिक जीवन के साथ जुड़ा ही होना चाहिए। निजी जीवन में जिसके दोष-दुर्गुण भरे पड़े हैं, वह सार्वजनिक जीवन में सही खड़ा रह सकेगा—इसमें पूरा संदेह है।

प्रतिनिधि के चुनाव में उसकी सक्रियता, सूझ-बूझ, लोकमंगल की भावना प्रगतिशीलता, प्रतिभा, शिक्षा, योग्यता आदि सभी बातों का ध्यान रखा जाना चाहिए, इन विशेषताओं के बिना सही रूप से प्रतिनिधित्व कर सकना और अपने अनुयायियों का मार्गदर्शन संभव ही न हो सकेगा। इसके अतिरिक्त सबसे मुख्य बात जो रह जाती है, वह है चरित्रनिष्ठा, सच्चाई, ईमानदारी, सज्जनता। आदर्श के प्रति हर परिस्थिति में खड़े और डटे रहने का साहस जिसमें है,

उसे ही प्रतिनिधि के योग्य स्वीकार किया जाना चाहिए। शिक्षा, संपन्नता या कुशलता के आधार पर ही किसी को इस योग्य नहीं मान लिया जाना चाहिए कि वह प्रतिनिधित्व के साथ जुड़े हुए कर्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों को ठीक तरह निभा सकेगा। व्यक्तिगत चरित्र, पिछले जीवन के क्रियाकलाप तथा भविष्य में आगत उत्तरदायित्वों का निर्वाह कर सकने योग्य तत्परता एवं सूझ-बूझ की कसौटी पर भावी प्रतिनिधियों की पंक्ति में खड़े लोगों को परखा जाना चाहिए और उनमें से जो सर्वोत्तम हो, उसी के पक्ष में विचारशील लोगों के द्वारा निर्णय लिया जाना चाहिए। अच्छा हो यह निर्णय विवेकवान् निष्पक्ष लोगों के बहुमत द्वारा व्यक्तिगत परामर्श में लिया जाय। सभा-सम्मेलनों में तो पक्षपात पड़ जाता है और उसमें उपद्रवी लोगों का ही पल्ला भारी रहता है। वे चीख-चिल्लाकर उल्टा-सीधा वातावरण भी बदल देते हैं। इसलिये इस संबंध में विचारशीलों और दूरदर्शियों की विचार-विनिमय वाली गोष्ठी ही उपयुक्त माध्यम मानी जानी चाहिए। राजनैतिक पार्टियों ने जो राग-द्वेष का रूप इन दिनों ले रखा है, वह भी ऐसे ही भले लोगों के पहुँचने पर समाप्त होगा। ९९ प्रतिशत शासन व्यवस्था तो सबके लिए समान हल ही प्रस्तुत करती है। नीतियों संबंधी थोड़े से आधार ही मतभेद के रह जाते हैं, जो यदि प्रतिनिधियों में सद्भावना, दूरदर्शिता एवं मिल-जुलकर काम करने की भावना हो तो वे थोड़े मतभेद भी आड़े नहीं आते। पार्टियों को कसौटी पर कसने की अपेक्षा प्रतिनिधि को उनके चरित्र और आदर्शों की कसौटी पर ही कसा जाना चाहिए। उनके विरोध में खड़े होने वालों को समझाया जाना चाहिए कि यह किसी की इज्जत घटने-बढ़ने का व्यक्तिगत सवाल नहीं, आप देशसेवा का दूसरा रास्ता चुन लें। समझदार होंगे तो मान भी सकते हैं। नहीं तो लोकमत के विपरीत चलने का फल भी उन्हें असफलता के रूप में भुगत लेने दिया जा सकता है।

दूसरा प्रश्न खर्च संबंधी तथा प्रचार व्यवस्था संबंधी रह जाता है। इस भार को उठाना विशुद्ध रूप से मतदाताओं का कर्तव्य

है, क्योंकि प्रतिनिधि उन्हीं की सेवा करने जा रहा है। हम घर में, कारखाने में नौकर रखते हैं, तो उनका निर्वाह खर्च भी देते हैं। ट्रेनिंग, ड्रेस, छुट्टी, किराया आदि का प्रबंध भी करते हैं। मुकदमे में वकील खड़ा करते हैं, तो उसकी फीस भी देते हैं। प्रतिनिधि जब अपना ही काम करने भेजा जा रहा है, तो नियत स्थान तक पहुँचाने का खर्च भी इस क्षेत्र की जनता को ही देना चाहिए। न केवल खर्च वरन् प्रचार की व्यवस्था भी उन्हीं लोगों को सँभालनी चाहिए। कोई व्यक्ति अपनी प्रशंसा करता फिरे और अपने लिए आपसे वोट माँगे यह उसके लिए सम्मान की बात नहीं है और न उस क्षेत्र के लिए जनता को जिसने उसे खड़ा किया है। यह कार्य भी उस क्षेत्र के समझदार और प्रभावशाली लोगों के द्वारा ही संपन्न किया जाना चाहिए।

मतदाताओं को अपना उत्तरदायित्व समझने और कर्तव्य-पालन करने की शिक्षा एक सुव्यवस्थित आंदोलन के रूप में दी जानी चाहिए। 'अपने मालिकों को समझायें' नारे को ध्यान में रखते हुए हमें एक ऐसा अभियान खड़ा करना चाहिए, जो सब राजनैतिक पार्टियों से सर्वथा स्वतंत्र हो और जिसकी नींव विशुद्ध देशभक्ति, चरित्रनिष्ठा एवं कर्तव्यपालन की जागरूकता उत्पन्न करने के आधार पर खड़ी की जानी चाहिए। राजनीति, धर्म-संप्रदाय, सामाजिक मान्यताओं को इसमें आड़े न आने दिया जाय, वरन् सभी वर्गों के विचारशील लोग इसे प्रजातंत्र को उपयोगी बनाने के प्रयास का शिलान्यास मानकर उसकी महत्ता को समझें और राष्ट्र-निर्माण के इस नितांत आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण कार्य में बिना किसी भेद-भाव के अग्रसर बनाने के लिए अपना पूरा योगदान दें।

मतदाता को वोट का महत्त्व और उसके सदुपयोग, दुरुपयोग के संभावित भले-बुरे परिणामों को विस्तारपूर्वक उदाहरणों के साथ समझाया जाना चाहिए। असल में हुआ यह है कि अब तक पार्टियों के प्रतिनिधियों ने वोट माँगे-झपटे तो हैं, पर वोटर के कर्तव्यों का ज्ञान कराने और मतदान की पवित्रता की गरिमा को समझाने का

प्रयत्न नहीं किया। संभव है—इसलिए न किया गया हो कि उनमें से अधिकांश इस कसौटी पर खोटे सिद्ध हो सकते थे और उनका ही पत्ता कट सकता था। जो हो, उस भूल को अब सुधारा जाना चाहिए और "गिनती भूल जाने पर नये सिरे से गिनने"—अथवा "सुबह का भूला शाम को घर लौट आवे" वाली उक्ति के आधार पर यह कार्य अब आरंभ करना चाहिए, जो आज से पचास वर्ष पूर्व किया जाना चाहिए था।

वोटरों को न केवल उनका उत्तरदायित्व समझाया जाय वरन् उपयुक्त प्रतिनिधि छाँटने की सांगोपांग विधि-व्यवस्था भी समझाई जाय। बात लगती छोटी है, पर वस्तुतः वह एक समग्र और दर्शन की तरह है कि—चुने जाने के लिये लालायित लोगों को धक्का मारकर आगे बढ़ निकलने को आतुर लोगों में से उपयुक्त व्यक्ति कैसे-किस आधार पर छाँटा जाय ? धूर्त लोग इस अवसर पर भी अपने पिट्ठुओं द्वारा काफी धक्का-मुक्की और घुसपैठ कर सकते हैं। इस कुहराम के बीच दूध और पानी को कैसे छाँटा जाए और उस कार्य को कर सकने वाले केस कैसे पकड़े जायें ? यह कार्य काफी सूझ-बूझ का है, सो उसे विवेकशील लोगों द्वारा पूरा किया ही जाना चाहिए।

इस आंदोलन की ऐसी सर्वांपूर्ण संरचना होनी चाहिए, जिसे अपनाकर उस क्षेत्र की जनता अपने प्रिय प्रतिनिधि को चुनाव संग्राम में विजयी बनाने में सफल हो सके। कार्यकर्ताओं, स्वयं-सेवकों की एक सेना का गठन इस व्यवस्था का आवश्यक अंग होगा, जो घर-घर जाकर प्रजातंत्र का स्वरूप और उसमें वोट के उपयोग का महत्त्व समझाये। निश्चित प्रतिनिधि के पक्ष में जो आवश्यक जानकारी है, उसे सर्वसाधारण को समझाये और अपने स्वतंत्र विवेक का उपयोग करे। बिना किसी दवाब, लोभ या बहकावे में आये विशुद्ध देशभक्ति की भावना से वोट देने के लिये तैयार करें। ऐसा निष्पक्ष साहस उत्पन्न करना इस संगठन सेना का प्रधान कार्य होना चाहिए और उन्हें ही यह काम भी सौंपा जाना चाहिये कि चुनाव के दिनों मतदाता को हजार काम छोड़कर

उत्साहपूर्वक अपने पैरों मतदान् के लिये पहुँचने और उसके बदले में प्रतिनिधि पर किसी प्रकार का आर्थिक अथवा बुलाने, याद दिलाने का बोझ न पड़ने दें। न अहसान ही प्रतिनिधि पर जताये। यह कार्य उसे अपने राष्ट्रीय कर्तव्य का अनिवार्य अंग मानकर ही संपन्न करना चाहिये। प्रचार, पर्चे, पोस्टर, सभा, जुलूस यदि आवश्यक हों और उनकी व्यवस्था करनी ही पड़े तो इसका खर्च भी मतदाताओं को हर घर से एक-एक मुट्ठी अनाज या पैसा इकट्ठा करके जमा करना चाहिए। उपयुक्त प्रतिनिधि चुने जाने का यही तरीका है और ऐसे चुनावों को ही वास्तविक जनमत पर आधारित कहा जा सकेगा और इसी में अपने देश तथा प्रजातंत्र आदर्श का मस्तक ऊँचा होगा।

चुनाव की पद्धति बदली जाए

जनतंत्र-शासन प्रणाली किसी भी देश के लिए एक वरदान है। कारण स्पष्ट है कि जनता के चुने हुए व्यक्ति ही शासन में पहुँचकर शासनसूत्र सँभालते हैं। जब लोगों के मन चाहे प्रतिनिधि ही राजकाज संभालेंगे तो वे उनका हित ही करेंगे, जिन्होंने उन्हें अपना विश्वासपात्र समझकर शासन में भेजा है। जनतंत्र वास्तव में यह शासन है, जो जनता द्वारा जनता में ही संचालित हुआ करता है। इसमें परोक्ष रूप से हर आदमी स्वयं अपना शासक हुआ करता है। भला इससे अच्छा रामराज्य तथा सुखी राज्य क्या हो सकता है ?

किंतु यही जनतंत्र एकतंत्र अथवा राजतंत्र से भी भयानक अभिशाप हो जाता है, जब अजागरूक जनता का मत प्राप्त कर गलत, गंदे और स्वार्थी व्यक्ति शासन में पहुँच जाते हैं। ऐसे चालाक लोग तरह-तरह के सब्जबाग दिखाकर और सौगंधें खाकर हित करने के नाम पर जनता के वोट मार ले जाते हैं और वे सत्ता में आते हैं तब सारे वचनों तथा सौगंधों को एक ओर रख देते हैं और आँख मूँदकर अपना स्वार्थ सफल करने में जुट जाते हैं। ऐसे विपरीत परिणाम उन जनतंत्रीय देशों में अधिक सामने आते हैं, जिनकी जनता अशिक्षित तथा राजनीतिक चेतना से शून्य हुआ

करती है—जो न तो अपने वोट का मूल्य जानती है और न व्यक्ति को पहचानती है। जिस किसी ने जिस तरह बहका लिया उसी को वोट दे दिया और बस !

भारत एक ऐसा ही जनतंत्रीय देश है, जहाँ की आम जनता राजनीतिक दृष्टि से न तो ठीक-ठीक जागरूक है और न पर्याप्त रूप से पढ़ी-लिखी ही है। यही कारण है कि भारतवासी जनतंत्र शासन प्रणाली का कोई विशेष लाभ नहीं उठा पा रहे हैं।

जब तक प्रजातंत्र रहेगा, चुनाव होते रहेंगे। वोट दिये और लिये जाते रहेंगे। साथ ही अबोधता के कारण गलत और गंदे लोग शासन में पहुँचकर अभिशाप बनते रहेंगे। अब सिवाय इसके कि जब तक जनगण पूरी तरह शिक्षित तथा जागरूक नहीं होते, चुनाव के कोई ऐसे उपाय निकाले जायें, जिससे गलत और गंदे व्यक्ति शासन में न पहुँचकर अच्छे और ईमानदार लोग ही पहुँचें।

चुनाव की रीति में सुधार तो लोकसभा, विधान सभाओं के चुनावों में भी होने चाहिए—किंतु यह एक बड़ा काम है और जब तक कोई परखी हुई रीति-नीति हाथ न आ जाये तब तक इनकी निर्वाचन नीति में सुधार की कल्पना नहीं करनी चाहिए। हाँ, ग्राम-पंचायतों के छोटे चुनावों में कोई भी नीति प्रयोग करके देखी जा सकती है। ग्राम पंचायतों की चुनाव रीति में कतिपय सुधारों के सुझाव नीचे की पंक्तियों में दिये जाते हैं। इन सुधारों को ग्राम पंचायतों के निर्वाचन में प्रयोग करके देखा जा सकता है। यदि यह वास्तव में सार्थक उपयोगी तथा व्यावहारिक सिद्ध होते हों तो इनका प्रयोग लोक निर्वाचन में भी किया जा सकता है।

ग्राम पंचायतों के चुनाव में सबसे दुःखद बात यह होती है कि चुनाव का परिणाम एक स्थायी शत्रुता के रूप में सामने आते हैं। अधिकतर लोग अपनी व्यक्तिगत दुश्मनी से प्रेरित होकर एक-दूसरे को हराने, नीचा दिखाने तथा अपमानित करने की नीयत से चुनाव प्रतियोगिता में खड़े होते हैं, ग्रामों के विकास अथवा ग्रामीण जनता

का हित करने के मंतव्य से नहीं। 'वह खड़ा हुआ है तो मैं भी खड़ा होऊँगा' इस प्रकार की स्पर्धा भावना जनतंत्रीय पद्धति के लिए बड़ी हानिकर है। उनमें से एक जीतता है, एक हारता है। जीता हुआ व्यक्ति अभिमान से भरकर पराजित प्रतिद्वंद्वी को विविध प्रकार से चिढ़ाने का प्रयत्न किया करता है। यह समझता है कि मैंने चुनावों में अमुक को हराकर अपनी दुश्मनी पूरी कर ली। पराजित व्यक्ति अपनी हार से इतना क्षुब्ध हो उठता है कि वह अपने प्रतिद्वंद्वी को अन्य अनेक प्रकार से अपमानित करने का प्रयत्न किया करता है। इसका परिणाम यह होता है कि उन दोनों प्रतिद्वंद्वियों का थोड़ा-सा भी मनोमालिन्य और अधिक गहरी तथा स्थायी दुश्मनी के रूप में परिणत हो जाता है।

जनतंत्रीय देशों की जनता को चुनावों की हार-जीत को अपने व्यक्तिगत मानापमान का प्रश्न नहीं बनाना चाहिए। प्रत्याशियों की हार तो वास्तव में मतदाताओं की ही हार हुआ करती है और फिर दो में एक जीतेगा और एक हारेगा ही। प्रत्याशियों को चाहिए कि वे चुनावों को खिलाड़ी की भावना से हार-जीत से परे होकर लड़ें। किंतु खेद है कि अपनी मानसिक न्यूनता के कारण भारत की जनता चुनावों की हार-जीत को अपनी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा का प्रश्न ही बना लेती है।

चुनावों के कारण गाँवों में जो दुश्मनी बढ़ती और अशांति फैलती है, इसे कम करने के लिए पंचायतों की चुनाव पद्धति में कुछ सुधार की नितांत आवश्यकता है। सबसे पहली जरूरत यह है कि चुनावों में निःस्वार्थी तथा सेवाभावी व्यक्ति ही सफल हों। किंतु यह हो कैसे ? लोग चुनावों में ऐसे-ऐसे हथकंडे काम में लाया करते हैं, जिनको कोई भी भला, ईमानदार तथा इज्जतदार आदमी नहीं अपना सकता—अतः वह हार जाता है और धूर्त व मक्कार लोग जीत जाते हैं।

इस अभिशाप को कम करने के लिए एक बात तो यह हो सकती है कि कोई किसी के मुकाबले में खड़ा न हो। केवल एक आदमी ही खड़ा किया जाए और वह निर्विरोध चुन लिया जाए।

निर्विरोध चुनाव से किसी को हार, जीत का घमंड व ग्लानि न होगी और न परस्पर शत्रुता ही बढ़ेगी।

केवल एक ही आदमी को निर्विरोध चुनने का तरीका यह हो सकता है कि किसी भी ग्राम पंचायत से असंबंधित कोई एक ऐसा बाहरी व्यक्ति मनोनीत कर लिया जाए, जो न तो किसी दल से संबंधित हो और स्वयं चुनाव लड़ने को उत्सुक हो, साथ ही जिसकी ईमानदारी तथा निष्पक्षता अधिक से अधिक सर्वमान्य हो। ऐसे किसी व्यक्ति को चुनाव के लिये मनोनीत नहीं किया जाता है। बल्कि यह व्यक्ति एक प्रकार से विश्वसनीय मध्यस्थ होगा। मध्यस्थ निश्चित हो जाने के बाद सारे मतदाता अपनी-अपनी रुचि के तीन-तीन नाम उक्त मध्यस्थ को चुपचाप दे दें। इन तीनों नामों को प्राथमिकता के क्रम से मतदाता तीन, दो तथा एक नंबर दे दें। इस प्रकार सारे मतदाताओं की ओर से नाम आ जाने वाले तीन व्यक्तियों को चुन लें। फिर क्रम से उन्हें बुलाकर पूछें कि क्या वे ग्राम पंचायत का सदस्य बनना स्वीकार करेंगे। पहले, पहले नंबर वाले से पूछा जाए—यदि वह तैयार न हो तो दूसरे से और यदि वह भी तैयार न हो तो तीसरे से। इस प्रकार प्राथमिक क्रम में जो खुशी से तैयार हो जाए उससे निःस्वार्थ सेवाभाव के एक प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर करा लिए जायें और उसका नाम सार्वजनिक स्वीकृति के आधार पर चुनाव के लिए घोषित कर दिया जाये। इस सार्वजनिक घोषणा की सभा में मनोनीत व्यक्ति को भी अपना प्रतिज्ञापत्र पढ़कर सुनाना होगा और स्वीकार करना होगा कि वह पंचायत में पहुँचकर गाँवों तथा ग्रामवासियों की हर संभव सेवा बिना किसी स्वार्थ के करेगा और कभी भी किसी स्थान अथवा प्रसंग में किसी प्रकार की बेईमानी अथवा गड़बड़ी नहीं करेगा।

इस प्रकार पहले से चुपचाप अपना प्रतिनिधि चुन लेने के बाद उक्त व्यक्ति को सार्वजनिक-सरकारी चुनावों में खड़ा किया जाए। स्वाभाविक ही है कि वह निर्विरोध में चुन जायेगा, उसके

विरोध में कोई खड़ा ही न होगा और कोई हठपूर्वक खड़ा यदि हो भी जायेगा तो अवश्य ही हार जायेगा।

इस प्रकार पहले से ही चुपचाप गुप्त चुनाव हो जाने से सरकारी चुनावों के अवसर पर न तो प्रत्याशियों की भीड़ खड़ी होगी और न मतदान का हंगामा होगा और न हार-जीत की प्रतिक्रिया होगी। सारा काम शांतिपूर्वक सरलता से संपन्न हो जायेगा। मतदाताओं के प्रचार-प्रवाह में पड़कर बह जाने की भी शंका न रहेगी। जिससे कि नेक और निःस्वार्थ व्यक्ति ही पंचायतों में पहुँचेंगे और वे ईमानदारी से गाँवों तथा ग्रामवासियों की सेवा करेंगे।

मत-पद्धति स्वशासन का प्रतीक है, यह निर्विवाद है, पर अभी अपने देश में इस उत्तरदायित्व को समझने के लिये स्वतंत्री व्यवस्था में हर व्यक्ति को, अपने को सरकार का अंग समझना चाहिए, उसे यह अनुभव करना चाहिए कि वह स्वयं अपना शासक है। वोट देते समय उसे इस जिम्मेदारी को अनुभव करना चाहिए। यदि देश में लोकतंत्र को सफल होना है और उसे अपनी यथार्थता सिद्ध करना है, वह सही निर्णय का उत्तरदायित्व वहन करे, साथ ही अधिकारी वर्ग उसे अपनी इच्छानुसार पालन करने दें। इस बड़े लक्ष्य की प्राप्ति के लिये प्रयत्न किया जाना और चुनाव की पद्धतियों में आवश्यक परिवर्तन किया जाना ही जनता के लाभ की दृष्टि से भी उपयोगी है और लोकतंत्र का मूलभूत उद्‌देश्य भी इसी से सिद्ध हो सकता है।

इतिहास की पुनरावृत्ति

आज से दो हजार वर्ष पूर्व जब भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ था, तब भी जनमानस का स्तर बहुत ही निम्न स्तर पर जा पहुँचा था। तंत्र और वाममार्ग के नाम पर सर्वत्र भ्रष्टाचार फैला था और उस निकृष्ट जीवन को व्यतीत करते हुए भी लोग अमुक कर्मकांडों को सहारा लेकर स्वर्ग-मुक्ति आदि की आशा करते थे। मद्य, मांस, मदिरा, मुद्रा, मैथुन की खुली छूट थी। चरित्र और सदाचार को

उपहासास्पद मूर्खता माना जाता था। यज्ञों के बहाने भरपूर मद्य, मांस का सेवन होता था। देवताओं के नाम पर बलि-प्रथा का खूब जोर था, भैरवी चक्र ने व्यभिचार की पूरी छूट दे रक्खी थी। उस अनाचार का परिणाम वही हो रहा था, जो होना चाहिए। लोग रोग, शोक, क्लेश, कलह, दुःख-दरिद्रता में बुरी तरह डूबे थे, सर्वत्र अशांति का हाहाकारी दावानल जल रहा था।

उन्हीं परिस्थितियों में गौतम बुद्ध जन्मे। गृहत्याग उन्होंने आत्म कल्याण की दृष्टि से किया था। बीमारी, बुढ़ापा और मौत के दुःखों से भयभीत होकर उन्होंने चाहा था कि वे ऐसा तप साधन करेंगे, जिससे अजर-अमर होने का, सदा निरोग और युवा रहने का अवसर मिले। इसी उद्देश्य को लेकर वे सुख-साधनों को लात मारकर तप करने निकले थे। उन्होंने वह किया भी, पर देर तक उस मार्ग पर चलते न रह सके। जैसे-जैसे उनकी आत्मा पवित्र होती गई, उन्हें विश्व मानव की पीड़ा अपनी पीड़ा लगने लगी। जनसमाज जिस पतित-स्थिति में पड़ा था उस पतन को उन्होंने अपनी आत्मा में भी अनुभव किया। विश्व की पीड़ा उनकी अपनी पीड़ा बन गई। उनने सोचा—मैं अकेला मुक्ति लेकर क्या करूँगा ? अज्ञान के निबिड़-बंधनों में बँधे हुए प्राणी जब इतनी नारकीय यंत्रणाएँ सह रहे हैं और सर्वनाश के मार्ग पर दौड़ते चले जाते हैं, तब मेरा कर्तव्य अपनी निज की समस्याओं तक सीमित रहने का नहीं। तप द्वारा जो आत्मिक पवित्रता प्राप्त हुई है, उसका उपयोग जन-कल्याण के लिए करना चाहिए। जितना अधिक विचारा, उतना ही उनका संकल्प परिपक्व होता गया। एक दिन वह आया जब उन्होंने एकांतिक, निराहार, कठोर तपश्चर्या का परित्याग कर जनमानस का परिशोधन करने में लग पड़ने का निश्चय किया। जो बुद्ध आत्म-कल्याण की आकांक्षा लेकर तप करने निकले थे, उनकी तपश्चर्या ने विश्व मानव के कल्याण में ही आत्म कल्याण का दर्शन कराया। वे अपनी बात सोचना छोड़कर सबकी बात सोचने लगे और वैसा ही उनका कार्यक्रम भी बन गया। बुद्ध ने अपने ढंग की एक महान् क्रांति का अभियान चलाया और उनकी पुण्य-प्रक्रिया से

स्नान करने वाली असंख्य आत्माओं ने स्वर्गीय शांति का अनुभव किया। तांत्रिक, वाममार्गी-भ्रष्टाचार की दावानल बुझी और उसके स्थान पर दया, अहिंसा, सदाचार, तप, संयम और करुणा की मंदाकिनी बहने लगी।

बुद्ध की अंतरात्मा जब समुचित विकास स्तर तक पहुँची तब उन्होंने घोषणा की—"स्वर्ग और मुक्ति की मुझे तनिक भी कामना नहीं है। लोकहित के लिए मैं बार-बार जन्म लूँगा और बार-बार मरूँगा। जब तक एक भी प्राणी बंधन में बँधा हुआ है, तब तक व्यक्तिगत मुक्ति को मैं कदापि स्वीकार न करूँगा। परमार्थ में मिलने वाला आत्म-संतोष मुझे लोक और परलोक के समस्त सुखों की अपेक्षा अधिक प्रिय है।" अपनी इस घोषणा के अनुरूप ही उन्होंने मृत्युपर्यंत कार्य किया। व्यक्तिगत तपश्चर्या का विकसित स्वरूप लोकहित की सेवा-साधना में परिणित हो गया। बुद्ध अपने समय के सबसे बड़े समाज सुधारक और युग-निर्माता हुए हैं। उन्होंने जन-मानस के पतनोन्मुख प्रवाह को उलट-पलट कर रख देने में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। तप और अध्यात्म का सर्वश्रेष्ठ एवं व्यावहारिक रूप संसार के सामने प्रस्तुत करने वालों में बुद्ध का स्थान असाधारण रहा। उन्होंने जन-मानस के स्तर को ऊँचा उठाने के लिए किये जाने वाले प्रयासों को तपश्चर्या और योगाभ्यास की ही संज्ञा दी। उनके अनुयायी लाखों बौद्ध भिक्षु सारे संसार में उनका महान् मिशन फैलाने के लिए उसी निष्ठा से संलग्न हुए हैं, जैसे कोई तपस्वी तप साधना में लग सकता है।

बौद्ध धर्म के मूल मंत्र तीन हैं—(१) 'धम्मं शरणं गच्छामि' अर्थात् धर्म की शरण में जाता हूँ। (२) 'बुद्धं शरणं गच्छामि' अर्थात् विवेक की शरण में जाता हूँ। (३) 'संघं शरणं गच्छामि'—अर्थात् संघ की शरण में जाता हूँ। इन तीन तथ्यों में मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन को धर्ममय बनाने की, विवेक को सर्वोपरि स्थान देने की, संघ शक्ति को प्रबल बनाने की प्रेरणा है। यह तीनों ही आदर्श ऐसे हैं जिनके बिना न व्यक्तिगत जीवन

सुख-शांतिमय बन सकता है और न जन समाज की प्रगति एवं समृद्धि की अभिवृद्धि हो सकती है। इन तीन सिद्धांतों को अपनाकर ही मनुष्य स्वर्गीय परिस्थितियाँ प्राप्त करता है और उन्हें छोड़ देने पर उसे पतन एवं नारकीय यंत्रणाओं का उत्पीड़न सहन करना पड़ता है।

अधर्म का आचरण करने वाले असंयमी, पापी, धूर्त और दुराचारी लोग शरीर, मन, धन, यश सभी कुछ खो बैठते हैं और उन्हें बाह्य जगत् में घृणा एवं अंतरात्मा में धिक्कार ही उपलब्ध होती है। ऐसे लोग भले ही कुछ शान-शौकत धन, साधन जमा कर लें, पर अनीति का मार्ग अपनाने के कारण उनका रोम-रोम अशांत एवं आत्म प्रतारणा की आग में जलता रहता है। चारों ओर उन्हें घृणा, तिरस्कार एवं असहयोग ही मिलता है। आतंक के बल पर वे जो कुछ पाते हैं, वह उपभोग के समय उनके लिए विष तुल्य दुःखदायक ही सिद्ध होता है। इसलिए आत्म शांति और सुसंयत जीवन व्यतीत करने वाले को धर्ममय जीवन व्यतीत करने के लिए ही तत्पर होना पड़ता है। नैतिकता-मानवता एवं कर्तव्यपरायणता को ही शिरोधार्य करना पड़ता है।

इस प्रवृत्ति का व्यापक प्रसार करने के लिए किये गये प्रयत्नों को नैतिक क्रांति कहते हैं। बुद्ध धर्म के प्रथम मंत्र "धम्मं शरणं गच्छामि" में इसी नैतिक क्रांति की चिनगारी संजोयी गई है। इस मंत्र को लोकव्यापी बनाने का जो प्रयत्न बौद्ध धर्मावलंबियों ने किया था उसे विशुद्ध नैतिक क्रांति ही कहा जायगा।

दूसरा मंत्र 'बुद्धं शरणं गच्छामि' में विवेकशीलता को सर्वोपरि माना गया है। समयानुसार पुरानी-अच्छी प्रथा-परंपराएँ भी रूढ़ियों और अंधविश्वास से दब जाती हैं, तब उनका सुधार और परिवर्तन अनिवार्य हो जाता है। उस जमाने में अनीतिपूर्ण असंख्यों कुप्रथाएँ पनप रही थीं। लोग उनका समर्थन और अनुकरण केवल इसलिए करते थे कि यह बातें पूर्व काल में चली आ रही हैं। बुद्ध ने बताया कि पूर्व काल से चली आने के

कारण ही कोई प्रथा या विचारधारा मान्य नहीं हो सकती। विवेक का स्थान सर्वोपरि है। जो बातें विवेक सम्मत न हों, वे किसी की भी कही हुई क्यों न हो, कितनी ही पुरानी क्यों न हो, उन्हें स्वीकार नहीं किया जा सकता। जब लोगों ने तांत्रिकी हिंसा को वेद सम्मत बताया, तो उन्होंने वेद को मानने से भी इनकार कर दिया। उन्होंने कहा—विवेक से बढ़कर वेद नहीं हो सकता। यदि वेद अनाचार का प्रतिपादन करता है, तो वह कितना ही पुराना और किसी का भी बनाया क्यों न हो, हम उसे नहीं मानेंगे। बुद्ध स्वयं वेद पढ़ने ओर समझने में समर्थ न थे। पंडित लोग जैसे गलत अर्थ करते थे उन्हें देखते हुए बुद्ध को उन प्रतिपादनों को अस्वीकार करना पड़ा। अपने समय की अनेकों कुरीतियों और अनुपयुक्त मान्यताओं को उन्होंने तोड़-मरोड़कर रख दिया। इसे बौद्धिक क्रांति ही कहा जा सकता है। बुद्ध ने नैतिक क्रांति ही नहीं, बौद्धिक क्रांति भी की थी।

तीसरा मंत्र है—'संघं शरणं गच्छामि' अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति को संघबद्ध और अनुशासित रहना। उच्छृंखलता, व्यक्तिवाद, स्वार्थ परायणता अनुशासनहीनता की महामारी जिस समाज में भी लग जाती है, वह मरणोन्मुख हुए बिना नहीं रह सकता। विशृंखलित लोग पारस्परिक सहयोग के अभाव में न तो प्रगति कर पाते हैं और न सुखी रह सकते हैं। इसलिए संघबद्धता को बौद्ध-धर्म में एक अत्यंत आवश्यक सद्गुण माना गया है। अलग-अलग गुफाओं में दूर-दूर रहने की अपेक्षा बौद्ध-भिक्षुओं का निवास एवं कार्यक्रम विशाल संघारामों में ही रहने का होता है। एकाकी रहने वाले व्यक्ति संकीर्णताग्रस्त होते हैं और वे जन-सेवा के लाभ से वंचित रहने पर आध्यात्मिक दृष्टि से भी पतित ही बनते जाते हैं।

सत्पुरुषों का संघ बनाना इसलिए भी आवश्यक है कि जनमानस के पतनोन्मुख प्रवाह को रोकने के लिए एक व्यक्ति का प्रयत्न पर्याप्त नहीं होता, चाहे वह कितना ही प्रतिभासंपन्न क्यों न हो। इसके लिए संघ शक्ति की ही अपेक्षा रहती है। राम ने रीछ-

वानरों तक का सहयोग संग्रह करके आसुरी प्रवाह को रोकने का संघर्ष आरंभ किया था। बुद्ध जानते थे कि उनके प्रयत्नों के पीछे जनशक्ति न रही तो अभीष्ट उद्देश्य पूरा न हो सकेगा। उन्होंने त्यागी, लोकसेवी और सदाचारी लोकसेवकों की एक विशाल सेना खड़ी की और उनके व्यापक प्रयत्नों ने अवांछनीय सामाजिक स्थिति को बदल डाला। आसुरी तत्त्वों को कुचल-मसलकर रख दिया। इस दृष्टि से बौद्ध धर्म को सामाजिक क्रांति का सूत्रधार कह सकते हैं।

तपस्वी बुद्ध, ज्ञानी बुद्ध, परोपकारी बुद्ध अपने तीनों गुणों के तीन आदर्शों द्वारा जन समाज की तीन महत्त्वपूर्ण सेवाएँ करने में समर्थ हुए। उन्होंने स्वयं अपना जीवन धर्ममय बनाया और दूसरों को धर्म-परायण बनने की प्रेरणा दी। व्यक्तिगत जीवन में हर मनुष्य अधिक से अधिक पवित्र बने, यही शिक्षा उनके प्रवचनों और धर्म ग्रंथों में भरी पड़ी है। "धम्मं शरणं गच्छामि" का संदेश उनके हर प्रयास में टपका पड़ता है। नैतिक क्रांति का यही तो आधार है। संयम और सदाचार का जीवनयापन किये बिना कैसे व्यक्ति का कल्याण हो सकता है और कैसे समाज सुखी रह सकता है ? इसलिए तपस्वी बुद्ध ने दूसरों को भी वैसा ही बनने की प्रेरणा दी। लोगों ने यथा संभव उनका अनुसरण किया और इससे उस समय की एक बड़ी समस्या भी सुलझी।

तत्कालीन असंख्यों कुरीतियों और अंध विश्वासों के प्रति उन्हें लोहा लेना पड़ा, विरोध, उपहास, निंदा का पग-पग पर सामना करना पड़ा। उन्होंने हर किसी को "बाबा वाक्यं प्रमाणं" की मूढ़ता से लोहा लेने की प्रेरणा दी और औचित्य को, सत्य को, न्याय को, विवेक को, आर्ष-सत्य बताकर उसके पालन करने की दृढ़ता उत्पन्न की। 'बुद्धं शरणं गच्छामि' का मंत्र यही तो उद्घोष करता है। दुष्टता के विरुद्ध सज्जनता की संगठित सेना का अभियान आरंभ किये बिना अनीति के घटने और मिटने का और कोई उपाय नहीं था, इसलिए बुद्धं को 'संघं शरणं गच्छामि' आदर्श के प्रति जनसाधारण में प्रगाढ़निष्ठा उत्पन्न करनी पड़ी। अध्यात्मवादी बुद्ध

अपने तीन मंत्रों को, तीन उद्देश्यों को पूर्ण करने में जीवन भर प्रयत्नशील रहे। नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक क्रांति के उनके महा प्रयास निष्फल नहीं गये। अपने समय में जनसमाज की सच्ची सेवा उन्होंने की है, जिससे लोक कल्याण का एक महान् कार्य संपन्न हो सका।

इतिहास की पुनरावृत्ति होती रहती है। बुद्धकाल जैसी परिस्थितियाँ आज फिर सामने उपस्थित है। अनीति, अनाचार, अविवेक अपने प्रौढ़ रूप में प्रबल हो रहे हैं। ऐसे समय में "धम्मं शरणं गच्छामि", "बुद्धं शरणं गच्छामि", "संघं शरणं गच्छामि" का संदेश सुनाई पड़े, नैतिक, बौद्धिक और सामाजिक क्रांति का शंख बजे तो उसे एक अद्भुत एवं परीक्षित चिकित्सा ही समझना चाहिए। लगता है कि इतिहास की पुनः पुनरावृत्ति होने जा रही है। युग निर्माण योजना संभव है, उसकी प्रतिकृति बनकर सामने आई है। इसी नैतिक, बौद्धिक एवं सामाजिक क्रांति के आधार पर राष्ट्र को समर्थ और सशक्त बनाया जा सकना सुनिश्चित रूप में संभव है।



मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ. प्र.)